

वीरप्रतापनाटकम्

वैजयन्तीटीकोपेतम्

श्रीसवतन्त्रस्वतन्त्रैस्साहित्याचार्यैस्सोलनराजगुरुभि-
र्महामहोपाध्यायविद्यावारिध्यादिपदालङ्कृतैः
पण्डितमथुराप्रसाददीक्षितै-
र्विरचितम्

प्रकाशक

महामहोपाध्याय मथुराप्रसाद दीक्षित,
१८२ अस्ती वाराणसी,

प्रकाशक—

म० म० मथुराप्रसाद दीक्षित,
१८२ अस्तो, वाराणसी,

[सर्वाधिकार सुरक्षित]

मेरी विरचित सब प्रकार की पुस्तकें निम्नलिखित
स्थानों से मिल सकती हैं—

मोतीलाल बनारसीदास

पो० ब० ७५, नेपाली खपरा, वाराणसी,

मास्टर खिलाड़ीलाल बुक्सेलर

कचौड़ीगल्ली, वाराणसी,

चौखम्मा संस्कृत सिरीज

चौक, वाराणसी,

भूमिका

सच्चिदानन्द स्वर्ण परब्रह्म परमात्माद्वारा अनुभूत आनन्द की अभिव्यक्ति के साधन की विवेचना प्रसङ्गानुपयुक्त तथा दुरुह मानने पर भी हम बलपूर्वक प्रतिपादन करने की धृष्टता कर सकते हैं कि उसकी प्रतिकृति जीवात्मा ने इस आनन्द की उपलब्धि के लिये ललित कला को ही अपना साधन चुना। स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, गान और काव्य इन पांच रूपों में सर्वोत्तम तथा सर्वप्रधान एवं न्यूनतम उपादान कारण से समन्वित काव्यकला मधुमती भूमिका में यौगिक सिद्धि के समान जिस लोकोत्तर आनन्द का उद्रेक करती है वह सदृश्यों से तिरोहित नहीं है।

इसके दो स्वरूप हैं दृश्य और श्रव्य। एक को नाटक कहते हैं और दूसरे को काव्य। यद्यपि काव्य-साहित्य के जन्मदाता महर्षि वाल्मीकि के काव्य 'रामायण' को कराल काल कवलित न कर सका, परन्तु प्रजापति, सरस्वती और भरत मुनि से एवं अम्भराश्रों से अभिनीत समुद्र-मन्यन, त्रिपुरदाह, लक्ष्मीविजय, जामदग्न्यविजय, कुमुदशेखरविजय तथा शर्मिष्ठा-ययाति नामक नाटकों को इस कुटिल काल ने अतीत के गर्भ में ऐसा तिरोहित कर लिया कि इनके केवल नाम साहित्य ग्रन्थों में ही उपलब्ध होते हैं। परन्तु इन प्रतिमा सम्पन्न व्यक्तियों से प्रवाहित रस-मयी धारा के दर्शन आज हम इस बोरप्रताप नाटक के रूर में कर रहे हैं।

मुसलिम आक्रमण के अनन्तर संस्कृत साहित्य में नाटकों का निर्माण अवसन्न-सा हो गया है। विद्वानों को प्रतिमा टोका ग्रन्थों के निर्माण में प्रखरित हो उठी, परन्तु साहित्य के समुद्रायकों को इससे सन्तोष नहीं। क्योंकि मौलिक ग्रन्थों की रचना के बिना संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार सम्भवित नहीं। विदेशियों के मुखारविन्द से संस्कृतभाषा के मृतत्व की घोषणा सुनकर किस सदृश्य संस्कृत अनुरागो का हृदय क्षोभ से नहीं भर जाता !!

इस समय में नाटक रचना एक दुष्कर कार्य है। आपने न केवल इस दुष्कर कार्य को ही सम्पन्न किया है, वरन एक अपूर्व वीररस प्रधान नाटक की रचना कर संस्कृत साहित्य की वृद्धि की है। आपकी यह कृति एक अमर कृति है और प्रत्येक संस्कृत साहित्य के प्रेमी तथा हितैषी का हृदय आप के प्रति असीम श्रद्धा तथा कृतज्ञता से भरा है। मैं चाहता हूँ विद्वद्गण देखें कि दीक्षितजी ने कितनी मधुर कितनी रम्य कितनी सुन्दर और ओजपूर्ण रचना की है।”

प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप के चरित्र से अपरिचितत्व रखने वाला पुरुष न तो भारतीय हो सकता और न ऐतिहासिक विद्वान्। महान् अकबर की महत्ता के और महाराणा प्रताप के शौर्य-धैर्य साहस के निदर्शक इस पुरुष में स्वतन्त्रता का पावन प्रेम परिलक्षित होता है। आलोचनात्मक दृष्टि से सम्पूर्ण नाटक के अध्ययन करने के अनन्तर इसमें हिन्दू-मुसलिम विद्वेष की गन्ध भी कहीं नहीं मिलती। इसमें सन्देह नहीं कि अकबर के चरित्र से प्रताप का चरित्र अत्यन्त उदात्त और उत्कृष्ट प्रदर्शित किया गया है। स्थालीपुलाकन्याय से एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। प्रतिपत्नी की पत्नियों के प्रति दोनों के विचारों से उपयुक्त अवतरण का स्पर्शीकरण हो जाता है। एक ओर तो अकबर प्रताप की पत्नी के हरण के लिये आदेश देता है और दूसरी ओर प्रताप के हाथ में आई हुई अकबर की धर्मभगिनी तथा उसके सेनापति की धर्मपत्नी को सम्मानपूर्वक लौटाने का निर्देश करता है।

अकबरः—

ससूनुमेनं मददुर्विदग्धं मलिम्लुचं क्षीणबलं द्विपन्तम्।

खलप्रियं याचकधद् भ्रमन्तं निहत्य तस्य प्रमदां हरण्यम् ॥

पष्ठे शङ्के ।

अब अकबर के सेनापति की स्त्रियों की चर्चा सुनिये—

से० चरः—महाराज, युष्मत्सेनापतेः पत्नी युष्मार्कं धर्मभगिनी सतीभिः सहितैव प्रतापमटैर्निगृहीता ।

अकबरः—कथमिदमभ्राव्यं शृणोमि । (स्वगतम्)

स्वसा मदीयैव करे रिपोर्गता, गतैव मे मूर्तिमती यशस्विता ।
न चास्ति तस्याः पुनराप्तिकारणं जितोऽहमेतेन निपातितः पदे ॥
पद्ये अङ्के ।

जब ये स्त्रियाँ प्रताप के पास लाई जाती हैं तो वह कहता है—

प्रतापः—अलं परदारवर्णनेन ।

शिशोदियाकुलोद्भूतः परकान्तां न वीक्षते ।

परापवादसदृशं तद्वर्णनमुपेक्षते ॥

तस्मादधुनैव ससुता ससखीमेनामस्याः स्वामिसविधे नयस्व । मा
स्वकीयजनविरहिता रात्रावेकाकिनो तिष्ठतु । यतः—

पर पुरुष-परीतां निर्जने सञ्चरन्तीं

बहिरपि च रजन्यामन्यगेहे वसन्तीम् ।

बहुविधशपथैः स्वां शोभनां साधयन्तीं

तदपि पिशुनलोकास्त्वन्यथैवाक्षिपन्ते ॥

सतमे अङ्के ।

जब अकबर अपने मेनापति से यह पूछता है कि क्या प्रताप ने
स्त्रियों को दासी बना लिया है, तो वह उत्तर देता है—

सेनापतिः—शान्तम् पापम् । शान्तम् पापम् । तेन तु अनुपदमेव
ताः सर्वा अपि बबहुमानं प्रेषिताः । घन्योऽयमायों जनः परमौदाय-
सम्पन्नश्च ।

किं बहुना—

परस्त्रियं यो मनसाऽपि नेक्षते स एव दासीं नु विधास्यते कथम् ।

चराचरं स्वप्रभया प्रकाशयन् चार्यमोत्पादयते तमस्ततिम् ॥

सतमे अङ्के ।

गत महायुद्ध के (१६३७-१६४४) अवसर पर कृष्ण ने उसी 'घर
फूक' नीति से जर्मनी को व्याकुल कर दिया था, जिस नीति का प्रयोग
महाराणा श्रीप्रताप ने किया था । प्रताप कहते हैं कि—

प्रतापः—सर्वाप्युपत्यका अन्न-जल-फलादिभिः शून्या विधातव्या ।

तत्प्रकारश्चायम्—

चन्ध्या वा सन्त्वचन्ध्याः क्वचिदपि फलिनो ज्ञायमानाः समस्ताः
क्षुद्रा दीर्घा भवेयुः खलु विटपिगणा भूलतः शोधनीयाः ।
सस्यं मूलादिकन्दं मधुकमपि लता यत्र कुत्रापि वा स्युः
तत्सर्वं नाशनीयं नहि भवतु यतो भक्ष्यलाभो रिपूणाम् ॥
कूपा चाप्यः सरांसि स्वविषयचलिते सत्यथे वाऽपथे वा
यावन्त्येतानि सन्तु क्वचिदपि च भवेद् वारि वा पल्वलं वा ।
तत्सर्वं नाशयित्वा मरुधरसदृशः सर्वतः स्यो विधेयो
देशोऽस्माभिर्महीध्राद् रिपुहननगतिः पूर्णतश्चापि कार्या ॥

सूतोये अङ्के ।

इस नाटक का नायक है प्रताप, और प्रतिनायक है अकबर । इसकी कथावस्तु है इतिहास प्रसिद्ध हल्दीबादो का युद्ध और भामाशाह की आर्थिक सहायता से पुनः राज्यप्राप्ति । इस ऐतिहासिक नाटक में बीररस की ऐसी सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है कि देखते ही बनता है ।

बीरप्रताप में योगिनीके गान में कितनी सरसता है, उसके प्रत्येक पदों में कितनी स्फूर्तिवायिनी शक्ति है—

इसका अवलोकन कीजियेः—

हर हर जय जय देव ।

जय प्रताप जय भारतभूषण जय वसुधाधिप देव ।

जय जय धर्ममार्ग परिरक्षक जय मर्यादा भूष ॥

जय शिशोदियावंशविभूषण जय हरिहर प्रतिरूप ।

जय यवनाधिप मानविमर्दक जय जय विजय महेश ॥

जय तुरुष्क सेनापति मर्दक जय करवालसुरेश ।

जय जय मान नगर विध्वंसक जय राजक तारेश ॥

जय जय मान मान विच्छेदक जय मेवाड़ नरेश ।

जय संधी तुरुष्क संप्रायित जय सच्चरित दिनेश ॥

जय नरपते स्वतन्त्र धराधिप जय जय जित यवनेश ।

बीरप्रतापे सप्तमे अङ्के ।

इस समय संस्कृत के पुनरुद्धार को कितनी आवश्यकता है इससे अवगत होकर जो लोग इसके लिये कितना प्रचार करते हैं यह विवेचनीय है । नवीन नवीन मौलिक रचनाओं के लिये कितने प्रोत्साहन की आवश्यकता है, धनी दानियों के द्वारा कितने 'दालमिया' 'मङ्गला-प्रसाद' पारितोषिकों की अपेक्षा है और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा कितनी सहयोग की आवश्यकता है इसके बारंबार कहने की जरूरत नहीं है । यदि मौलिक संस्कृत लेखकों के बिना अवलम्बन के बिना कर्णधार संस्कृत समुन्नति का स्वप्न देखते रहेंगे, तो यह इसके लिये हित कर न होगा । अतः यदि ये लोग मुत्तहस्त होकर मौलिक संस्कृत लेखकों का सहयोग करें तो हमारे विचार से वह दिन दूर नहीं जब संस्कृत भाषा भी विश्व में समादृत होकर उच्चासन पा सकेगी । भगवती जगदम्बिका वह दिन शीघ्र ही लाये यही हमारी प्रार्थना है ।

भाँसी

सरस्वतीसदन

मार्गशीर्ष २०१८

चन् १६६१ ई०

}

सदाशिवदीक्षित

श्रीः वीरप्रतापनाटकम्

प्रथमोऽङ्कः

सूत्रधारः—

या प्रत्यूहपतङ्गमत्तदहने दीप्रप्रदीपायते
या दारिद्र्यमहीध्रपक्षदलने देवेन्द्रवज्रायते ।
या आशानतमःसमूहहरणे भास्वन्मयूरायते
सा विष्णोश्चरणारविन्दमुपमा विष्वक् प्रतापायते ॥१॥

येषां वचनमयूरीर्विकाराभायान्ति हृदयकमलानि ।

तेभ्यो हृदयनिवासादशानतमो निरास्येत ॥ १ ॥

अभिगीतविद्यावारिषयतया नान्दीरूपेण मङ्गलमारभते—या प्रत्यूह-
इत्यादि । या, प्रत्यूहा विष्ठाः पतङ्गा इव, तेषां सङ्घस्य समूहस्य, दहने सङ्-
तोभापेन विनाशने, देहोप्यमानप्रदीप इव आचरति भायते । देहोप्यमा-
नप्रदीपस्यैव पतङ्गसङ्घदहने सामर्थ्यमिति कृत्वा दीपेत्सुकम् । तथा या
दारिद्र्यमहीध्रपक्षाणां दलने देवेन्द्रवज्रवदानरति । या च अशानन्पस्य
तमःसमूहस्य हरणे, भास्वन्मयूरायते मूर्धकिरणवत्प्रकाशते । सा
विष्वक् चतुष्टयं दिक्षु, न तु राज्यदेशादस्यापिनी, एतेन तस्या अनि-
यन्तोपदेशादस्यादित्य प्रमादतेभ्योदेशिष्ठं च व्यज्यते । विष्णोश्चर-
णारविन्दयोः, गुणमा-ग्रत्युत्कृष्टाया सोमा, 'गुणमा परमा सोमा'
इत्यमरः । प्रतापायते प्रभार इव आचरति । अथ प्रथमचरणेन ऊर्ध्व-
प्रधारितं, द्वितीयचरणेन तिर्यक्प्रधारितं, तृतीयचरणेन अधः प्रधारितं
वाच्यते, तथैव तेषां स्वभावात्, विष्णुवदगुणमावाध सदैवः प्रधारितम् ।

अथ प्रदीपकुलिशसूर्याणामुष्णस्वभावाच्चरणसुषमायाश्च शैत्यबोध-
नाय चरणाञ्जयोरमेदप्रतिपादनम् । प्रतापायते इति । प्रतापः-सर्वरा-
जाना मुकुटभूत आर्यपतियो महाराजाप्रतापः, तद्वदाचरति । प्रतापोऽपि
प्रत्युहस्वरूपस्य अकचरसैन्यपतङ्गसमूहस्य विनाशने देदीप्यमानप्रदीप
इयाचरति । उक्त हि मनुना “बालाऽपि नायमन्तव्यो मनुष्य इति
भूमिपः । महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति” । ७ । ८ । एकमेव
दहत्यग्निर्नर दुर्यधर्मिणम् । कुल दहति राजाग्नि सपशुद्रव्यसन्धम् ।”
७।६॥ देवेन्द्रवज्रघाट्यप्रतिगदनात् बहुदानितं तेन दारिद्र्यस्य
समूलोच्छेदकत्वं व्यज्यते । या अज्ञानतमः समूहहरणो भास्वन्मयूखायते ।
एव न हल्दीपाटिकयुद्धतट्टे सैन्यता बहिर्गमन एव देशरक्षेत्यादिज्ञानो-
दयात्स्यत एव भास्वन्मयूखायित्वम् । मनुनाऽपि राज्ञः सूर्यसमत्वमुक्तम्
‘तस्यादित्यवच्चैष चक्षुषि च मनासि च । न चैनं भुवि शक्नोति काश्चि-
दप्यमिबोक्षितुम्’ । ७ । ६॥ इति । अथ पतङ्गसत्सुसदृशस्य अकचरसैन्य-
रहनस्य, अभिमतघनप्रातेः, हल्दीपाटिकयुद्धसदृशे बहिर्गमनस्य च वर्ण-
नीयप्रत्यविषयस्य व्यङ्ग्यरूपेण प्रतिपादनात् बीजरूपं वस्तु व्यज्यते ।

ननु “पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निरर्तते । प्रविश्य स्थापकस्तद्वत्का-
व्यमास्थायैस्ततः । ६ । २६ ॥ दिव्यमर्त्ये न तद्रूपं मिथ्रमन्यतरस्तयोः ।
सूत्रपेक्षस्तु बीजं वा मुग्धं पात्रमथापि वा । ६ । २७॥” एतेन “सूत्रधारः
पूर्वरङ्गं विधाय निरर्तते, तदनन्तरं स्थापकः प्रविश्य बीजादि वस्तु
गूयं दे” इति वाच्यते, इह तु पूर्वरङ्गमनिरूप्य स्थापककरणीय बीजवस्तु-
गूयं न सूत्रधारेण नियते तत्कथं युज्यते । इति चेच्छृणु । अथ प्रतिपाद-
नीयप्रत्यविषय एव व्यज्यते न तु स्फुटतया पात्रप्रवेशयोग्यत्वेन सूच्यते ।
अत एव न तेषामभूतमनुद्बुद्धाजमादाय पात्रप्रवेशः कार्यते । ननु पूर्वरङ्ग-
मप्रदश्यं कथं पूर्वेणैव नान्दी उपनिरज्यते । तत्रायं नियमः-“पूर्वरङ्गं
विधायैव सूत्रधारो निरर्तते” अथ विधायैवेत्यत्रैवकारेण अयोग्यमवच्छे-
दार्थबोधनागूयभागात्तरं पूर्वरङ्गं निदृष्ट्यादिति प्रतिपाद्यते । पुनस्तत्रैव
‘पूर्वरङ्गमप्यनिरूप्यगारमरे तेने’ “यथाव्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गरिप्नोरशान्तये ।
कुशोपश्रः प्रदृष्टं पूर्वरङ्गः न उच्यते” इत्येवं कुशोपश्रः त्रिविधमाश्रये

पूर्वरङ्गत्वमुक्तम् । सूत्रधारकृतस्य तु पूर्वरङ्गतैव नास्ति तत्कथं युज्यते, कथं वा कुशीलवकरणाये सूत्रधारकृतौ विरोधः परिह्रियते । अत्रैवमवगन्तव्यम् । सूत्रधारस्थापक-कुशीलव-नटानां कार्याणि सूत्रधार एव कुर्यात्, तथा सत्येव नाटके रोचकता संपद्यते, अन्यथा करणे प्रत्युत सामाजिकानां वैमुख्यं स्यात्, सामाजिका विचारयिष्यन्ति किमर्थमयं पूर्वरङ्गमानं नान्दीमात्रं वा कृत्वा निवृत्तः, यदि प्ररोचना प्रस्तापना वा अयमेव कुर्यात्तदापि शोभनमेव भवेत् । वस्तुतस्तु सामाजिकानां वैमुख्योत्पादकत्वं, सहृदयहृदयोद्वेजकत्वं वा दृश्यभ्रव्यकाव्येषु दोषकतावीजम् । तद्वीजं यदि सूत्रधारमानेन नान्दाप्रस्तावनादिके सकले कार्ये कृते न प्रतिभासते तदा न काऽपि क्षतिः । अत एव प्राच्य-समस्तैःपि कविभिः सूत्रधारेणैव नान्दीप्रस्तावनादि सकलं कार्यते । न च क्वचिदपि पूर्वरङ्गनान्दी पार्थक्येन क्रियमाणे दृश्यते । अत्रेदं तत्त्वम् । उद्दिष्टं कुशीलवादिभिः सहितेन सूत्रधारेण पूर्वरङ्गं क्रियते, तत्फलं रङ्गविघ्नोपशान्तिरेव । तस्य पूर्वरङ्गस्य प्रत्याहारादिकानि द्वाविंशत्यङ्गानि तत्र नान्दीरूपमङ्गमवश्यं सूत्रधारेण कर्तव्यम्, तत्फलमपि विघ्नोपशान्तिरेव । एव च 'तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये' इति आवश्यक्येन तत्करणेनैव विघ्नोपशान्तौ तदर्थं क्रियमाणं पूर्वरङ्गाऽन्यथासिद्धः । अत एव न तथारूपेण कैश्चिदपि कविभिः प्रयुज्यते । यदपि सूत्रधारकुशीलवै क्रियमाणो विरोध-प्रदर्शनं क्रियते तत्राप्येव यत्तद्व्यम् कुशीलवै सहितेनैव सूत्रधारेण पूर्वरङ्गः क्रियते । यदि कुशीलवा केनापि कारणेन नापस्थिता भवेयुस्तदा सूत्रधारस्तु अवश्यमेव एकेन द्वाभ्यां वा कुशीलवाभ्यां पूर्वरङ्गं कुर्यात् । ननु तर्हि कुतो नैवमुपनिबध्यते, हन्त ! कथं तदन्वयासिद्धत्वप्रतिपादनं विस्मयते । ननु तर्हि कथं नाट्यशास्त्रकारेण विश्वनाथेन च तथा वर्णितम्, कथं वा तदङ्गानि नाट्यशास्त्रकारेण दर्शितानिति चेदुच्यते-तत्र यदि विस्तारप्रदर्शनपूर्वकं प्रत्याहारादिकानि द्वाविंशत्यङ्गानि कश्चिदुपनिबध्नात् तदापि न क्षतिः । परं तु तथाकरणे नातिशयचमत्कारित्वमवगम्यते, अत एव न कैश्चिदपि प्राच्यैः प्राचानैर्वा कविभिस्तथापनिबद्धमिति तदनुसारिणा मयाऽपि न तथापनिबध्यत इति ।

यत्कृपालवमात्रेण मूकोऽप्यायाति वाग्मिताम् ।
स एव देवदेवेशः शंकरः शं करोतु नः ॥ २ ॥

(नान्द्यन्ते)

पुनः स्वकार्यसिद्धौ वाग्मितामेव कारण मन्यमानस्तद्गुणप्रापकात् शंकरास्कल्याण प्राययते-यत्कृपा-इति । यस्य सकलचराचरप्रसिद्धस्य, कृपाया लवमात्रेश-लेशमात्रेण, 'लवलेशकल्याण्य' इत्यमरः । मूकोऽपि वाग्मितामायाति, सर्वथा घननमात्रेणापि रहितो मूको नावदूकेष्वपि बा-चोयुक्तिप्रवीणो भवति । एतेन कारणनिरपेक्षकार्यसंपादनसामर्थ्यवत्त्वा-त्तस्य सर्वलोकातिशयित्वं व्यज्यते । उक्तं हि 'न खलु परतन्नाः प्रमुधियः' । स एव देवदेवानामिन्द्रादीनामीशः । शंकरः-शं कल्याण करोतीति शंकरः । एतेन कल्याणकारित्वं तत्त्वमात्र एवेत्यतो न मे प्रार्थनायैकल्य-समाधनाऽपीति भावः । न-अस्माकं समासदा नटादीनां च, शं कल्याण करोतु ।

'नान्द्यन्ते' इति । इयं नान्दी, अष्टाभि पदैरुपनिबद्धा, तथा चोक्तम् । "पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत" । अत्र मुत्तिङन्तैर्द्वादशभिः पदैः, श्लोकचतुर्युग्मागमेक पदं मत्वा अष्टाभिर्वा पदैर्नान्दी भवति । तथा च श्लोकरुद्वयात्मिका अष्टपदीय नान्दी । यद्वा 'या प्रत्यूहे' ति पूर्वश्लोकः पूर्वरङ्गः, 'यत्कृपालवे' ति द्वितीयश्लोकः मुत्तिङन्तैर्द्वादशभिः पदैरुत्तमा नान्दी । उक्तं च मन्दारमकरन्दे 'अष्टभिर्दशभिः श्लेषा तथा द्वादशभिः पदैः । अष्टादशपदैर्वाऽपि द्वाविंशत्या पदैर्युता' इति । ननु यदि पूर्व-श्लोक पूर्वरङ्गात्मकस्तर्हि पूर्वरङ्ग विधाय सूत्रधारः कथं न निवर्तते, इति चेदुच्यते-नान्द्या अपि पूर्वरङ्गस्यैवाङ्गत्वात्तत्रापि पूर्वरङ्गतैव । किञ्च स्थापककुशीलवादीनामपि कार्याणि सूत्रधारेणैव क्रियमाणानि सर्वनाट-केषूपनिबद्धानीति पूर्वं प्रतिपादितमेव । सूत्रधारस्य तथाविधमेव चानुर्यं यत्सर्वमेव प्ररोचनाप्रस्तावनादिकं कर्तुं प्रभवति । उक्तं च 'नाट्योप-रणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते । सूत्रधारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते' । मानृगुप्ताचार्यैरप्युक्तम् "चतुरातोद्यनिष्ठातोऽनेकमपासमावृत । नाना-

आज्ञप्तोऽहं विद्वत्परिपदा, यदिदानो भारते देशे हीन-
दीनदशामापन्नानां वीराणां शौर्यसाहससहिष्णुतागुणाना-
मुद्द्योतनाय परकाष्ठाभाषिणि भजमानानां पौर्व-
कालिकक्षत्रियाणां शौर्यधैर्याद्यभिनयेन भाविनवयुवकेषु
तत्तद्गुणसंपादनाय, प्रसादनिर्णयरत्नाकरादिविविध-
ग्रन्थनिर्मात्रा मथुराप्रसाददीक्षितेन प्रणीतेन अभिनवेन

भाषणतत्त्वज्ञो नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥ नानागतिप्रचारज्ञो रसभाव-
विशारद । नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वित ॥ छन्दोविधान-
तत्त्वज्ञ सर्वशास्त्रविचक्षणः । तत्तद्गीतानुगलयकलातालावधारण ॥ श्रव-
धाय प्रयोक्ता च योक्तृणामुपदेशक । एव गुणगणोपेत' सूत्रधारोऽभिधी-
यते" ॥ इति ।

एव च श्लोकरुद्धात्मकाष्टपद्याः 'यत्कृपे'ति द्वादशपदात्मिकाया वा
नान्द्या श्रन्ते पुन सूत्रधारो भारतीवृत्त्या समासदा प्ररोचना कुरुते ।
'प्रशसात प्रशचना'इत्युक्ते । तत्स्वरूपम्—भोतृदृष्टृणा प्रवृत्तौ उन्मुखो-
करणम् । तच्चाग्रिमव्याख्यातः स्वत एव स्फुटोभविष्यति । आज्ञप्त इति ।
अहम् साक्षादेव न तु केनापि सदेशद्वारेण । तत्रापि विद्वत्परिपदा, न तु
एकेन केनापि सामान्यपुरुषेण । एरूपुरुषादिष्ट कदाचिदन्यमनस्कतया
अभिनिवेशतो वा अन्यथाऽपि भवेत् विद्वत्परिपदादिष्ट नान्यथा भवितुम-
र्हति । तत्रापि आज्ञप्तः, न तु कथित एव । एतेन तद्वचनानामनुल्लङ्घनीयत्वं
ध्यज्यते । तथा च परिपदेन नाटकग्रन्थ पूर्वमवगत्य मामभिनेतुमाज्ञा-
पयति । एतेन वक्ष्यमाणवस्तुनि आदरातिशयो बोध्यते । अथाज्ञामेव
दर्शयति । इदानीम् अधुना हीना-नीचाम्, दीनाम्-दुःखगुलाम्,
दशाम्-दयितम्, आपन्नाना प्राप्ताना वीराणाम्, शौर्यादिगुणोद्यो-
तनाय-यद्यपि गुणगुणिनोरमेदेनोपस्यानात् वीरेषु शौर्यादयो गुणाः
सन्त्येव, तथापि हीनदीनदशात्वेन ह्युत्तप्रायाणा गुणानामुद्दीपनाय । तथा
अधुना जनिष्यमाणेषु नवयुवकेषु शौर्यधैर्यादिगुणानां संपादनाय बोध-
नाय । यद्यपि तेषु ते गुणाः सन्त्येव तथापि न ते स्वात्मनि विद्यमाना-

वीरप्रतापनाटकेनोपस्थातव्यमिति प्रतिपात्र' विधीयतां यत्नः ।

(मनसि) अस्तु तावन्नटीमाह्वयामि ।

स्तान् गुणान् जानन्तीति 'भवन्तः शूरा धीराश्च' इति बोधयितुम् । 'परकाष्ठा' मिति' कन्दरादिनिवासभूषयनोपवासादिचरमदशावस्थायिनीमापत्तिं सेवमानानां पूर्वकालसमुत्पन्नानां क्षत्रियाणाम् महाराणाप्रतापानाम् । अत्र आदर्शार्थं बहुवचनम् । 'शौर्यादीनामभिनयेन' इति । आदिशब्दाद् धैर्यसाहससहिष्णुतानां ग्रहणम् ।

'प्रसाद' इति । चन्दबरदायिप्रणीतप्राकृतसमिश्रितस्य टीकाभाष्याद्यभाषेन विदुषामपि दुर्बोधस्य 'पृथ्वीराजराजा' इत्यभिधेयस्य महाकाव्यस्य लौकिकभाषाया सरलशब्दैः प्रसादाभिधेयटीकायाः, निर्णयसिन्ध्वादिग्रन्थेषु सत्स्यपि धर्मशास्त्रीयविवादग्रस्तविषयाणां जागरूकत्वाद् धर्ममार्तण्डवधाटाधिपति-श्रीराजाधिराजदुर्गासिंहमहोदयानामनुरोधेन 'निर्णयरत्नाकर' नामकस्य प्रबन्धस्य, निखिलजैनशास्त्रमालोक्ष्य बृहदाकारमयस्य सप्तभागात्मकस्य (जैनसाङ्गलोपाधिया) अभिधानराजेन्द्रकोपस्य निर्माणसहायकेन । आदिपदात् नारायणबलिनिर्णय-कुतर्कतत्कुठार-सामासचिन्तामणि-कवितारहस्य - काशीशास्त्रार्थ-कलिदूतमुखमर्दन-वर्ण-संकरजातिनिर्णय अस्पृश्यमन्दिरप्रवेशनिर्णय-जैनरहस्य-भगवद् (विष्णु) नखशिक्षवर्णनादीनां ग्रहणं बोध्यम् । मथुराप्रसाद-इति । 'रूपकस्य कवेराख्या गोत्रायपि स कीर्तयेद्' इति नियमात्कविना नामनिर्देशः कृतः । दीक्षितेन-इति । अयमुपाधिः कवेरष्टमपूर्वपुरुषेण वैदिकप्रक्रियानिपुणेन कर्मठेन कान्यकुब्जेन श्रीकान्तनाम्ना यज्ञे वैदिकमन्त्रैरग्निप्रादुर्भावाद् यज्ञकरणाच्चोपलब्धः । तद्वशीयाः सर्वेऽपि कान्यकुब्जेषु श्रेष्ठाः श्रीकान्तदीक्षितेत्युपाधिभूयिताश्च मन्यन्ते । दीक्षितस्येति तदुपाधेरेव प्राधान्येन विरोध्यत्वान्नाम्नः पूर्वनिपातः । अभिनवेन-इति । अधुनासमये नाटकीयप्राकृतभाषाया विद्वत्त्वप्रचाराद् भरतप्रणीतनियमानुकूलनाट्यनिर्माणे विदुषामप्रवृत्तेः । अनवलोकितपूर्वत्वाद्वा अस्याभिनवत्वम् । यद्-यस्मात्का-

(प्रकाशम्) अयि प्रिये ! (यवनिकातः)

नटी—अञ्ज ! इयं स्मि ।

आर्य ! इयमस्मि ।

(ततः प्रविशति गायन्ती नटी)

हंसट्ठाणं करडो लहइ चुहो तं ए को वि बारेइ ।
हसस्थानं करटो लभते बुघस्त न कोऽपि वारयति ।
उच्च सारंगवलायाकदम्बएहिं हठाउ नोसरिओ ॥ १ ॥
पश्य-सारङ्ग-बलाकाकदम्बकै हठानि वारित ॥

रणात् मया घोरप्रनापनाटकेनोपस्थातव्यमिति हेतोः प्रतिपाद्य यत्नो विधीयताम् । यत्तदोर्नित्यसम्यग्वाच्यार्थरूपकेन इतीत्यनेन यदित्यस्य समग्र इति ।

‘आशुतोऽश्म’ इत्यारभ्य भारती वृत्तिः । तल्लक्षण चैवम्—‘भारती संस्तुतप्रायो वाग्व्यागरो नटाश्च । मेदै प्रोचनायुक्तैर्वाथीप्रहसनामुखै’ इति । ‘अयि प्रिये-इति । अयि इति संबोधने । प्रिये ! दयिते ! ‘मुत्त-दुःख’दिषु महचारिणि ! एतेन विद्वत्परिपदाशापालने सर्वथा सहायकत्व-मस्या अभिव्यज्यते । आर्य इति । नटीसूत्रभूम्पा परस्पराद्मानमायंशब्देन कर्तव्यम् । तथा चोक्तम् ‘भगवन्तोऽर्चयन्त्या विद्वद्देशपिलिङ्गिनः । रिप्राप्तात्प्राप्ताध्याया नटीगूरुभृतौ मिथ ’ इति । इयमस्मि-भवतः सन्नि-वृष्टमेवागनाऽस्मि । इदमस्तु सन्निवृष्टवर्तिनि नियमात् ।

हंसट्ठाणम् इति । कण्ट-काकः, ‘काके तु करटारिष्टपलिपुष्टकृ-ज्जा’ इत्यमर । भक्ष्यामक्षयविवेकशून्य काकः, सदसत्परिज्ञानरहितः काक इयं भीकं परस्त्रीभक्ष्यः पुरुषविशेषश्च । काकस्वरूपधारिणा जयन्तेन जगज्जननी सोमा अग्निलयिता, ततो रामेयैकवायेन काकोऽदृष्टा काशी-कृत इति काकस्य परस्त्रीकामुकत्वं प्रसिद्धम् । हसस्य नीरत्नीरिमेदचतु-रस्य, अथ च युक्तायुक्तशिवेककुशलस्य पुरुषविशेषस्य, स्थान-वर्ध, राग्य-सिहासने च । लभते-प्राप्नोति, प्राप्तुमुद्युक्त एव, न तु अद्यारधि प्राप्तः ।

सूत्रधारः—

आर्येऽनया तु गीत्या मे मेवाहं नीयते मनः ।

प्रतापाशं यत्र गृह्णन्—(इत्यधोक्ते एव)

त करट पुरुष च, कोऽपि बुध परिहृतः, देशदशातत्त्वदृशश्च । पक्षिणु
शुकस्य परिहृतत्वं प्रसिद्धम्, कादम्बर्यामुपन्यासे पूर्वजन्मस्मरणात्, अध्यय-
नशीलत्वात् । बोधयतीत्यन्तर्भावित्वाज्जर्षे बुध्यते इति बुधः । तुलसीदासः
शुकरूपधारिणा हनुमता बोधित इति प्रसिद्धम् । न वारयति-नैव निवार-
यतीत्यर्थः । उअ पश्य । सारङ्गः—चातक, बलाका—वकस्त्रियः, तेषां
कदम्बकैः समूहैः, हठाक्षिःसारितः । अन्यत्र साराङ्गाः साराणि अङ्गानि
येषां ते साराङ्गा दृष्टपुष्टाङ्गाः । सारङ्गः पशुपत्तिगो । एतयोरेवार्थे शक-
न्वादौ पाठः अन्यत्र साराङ्ग इति । तथा ब्रह्मेन सेनया, अकृति गच्छ-
तीति बलाक-सेनापतिः, तेषामोपत् कदम्बकैः समूहैः हठाक्षिःसारितः ।
राज्यसिंहासनमारोढुमिच्छन्नेव जगन्मल्लो रावतकृष्णादिभिर्निस्सारित इति
भावः ।

सूत्रधारः 'साराङ्गबलाकाकदम्बकैः' एवेवोचितं द्वितीयार्थमवगत्य कथ-
यति—आर्ये ! नाट्यप्रयोगचतुरेषु श्रेष्ठतमे ! एतेन तस्याः स्वकार्यज्ञमत्वं
ज्ञोत्यते । अनया प्रत्यक्षतः धृतया गात्या तु गीतिनामकच्छन्दसा अथवा
गानेन तु मे मनः मेवाहं नीयते । यत्र नीयते' इह 'गीतो कर्मणि
दुष्पादेः प्रधाने नीद्वृत्त्वहाम्' इत्युक्तेः । प्रधानकर्मणि प्रत्ययः । यत्र यस्मिन्
मेवाहदेशे, प्रतापाश-प्रतापस्य, अशम् अधिकारं गृह्णन्, ज्येष्ठभ्रातृत्वा-
त्तस्यैव राज्येऽधिकार इति । इति-अर्धाक्षमेव श्रुत्वा केनापि विपक्षिणा
गृह्यमाणं स्वराज्याशमवगत्य नेत्रस्ये कुत्रचिद् अप्रत्यक्षविषयस्थाने स्थितः
प्रतापः स्फोषं कथयति । आः कष्टम् ।

एव प्रजापालकनया मयि स्थिते शौर्यधैर्यादिविशेषगुणविशिष्टे
निर्भीकतया युद्धभूमौ विद्यमाने सति को नाम ममाशम् अणुमात्रमपि
मदीयमागं ग्रहीतु-हठादास्कन्दितुं शक्नोति । न कीर्त्तनीत्यर्थः । 'जगदिति'
पूर्वेण समन्वयः । यत्र प्रतापाशं गृह्णन्, जगत्-जगन्मल्लनामा प्रतापस्य

(नेपथ्ये)

आः, क एवं मयि स्थिते ममांशं ग्रहीतुं शक्नोति ।

सूत्रधारः— जगत् कृष्णैर्निवारितः ॥ ४ ॥

(इति ब्रुवन् निष्क्रान्तः सनटीकः सूत्रधारः)

(प्रस्तावना ।)

(आः क एवं मयि स्थिते ममांशं ग्रहीतुं शक्नोति इति पठन् प्रविशति
सालुग्नसहितः प्रतापः ।)

लघुभ्राता । उत्तरपदलोपाद् भीमादिशब्दवत्पूर्वपदमात्रेण जगदित्यनेन
जगन्मल्लस्य ग्रहणम् । कृष्णैः राक्षतकृष्णादिभिः, निवारितः—हठात्प्रति-
पिद्धः ॥ ४ ॥

अथ स्वरसयोगेन प्रतापागमनमवगत्य नटीसहितः सूत्रधारो
निष्क्रान्तः । इति प्रस्तावना—“सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य
वा । भवेत्तत्रप्रवेशश्चेत्कथोद्धातः स उच्यते” इति कथोद्धाताया
प्रस्तावना ।

ततः—आः क एवमित्यादि पठन् रङ्गभूमी सालुग्नसहितः प्रतापः
प्रविशति । मद्भागेत्यारभ्य आम् ज्ञातमित्यादि सुगमम् । अथेति । यत्किना
जगन्मल्लाय राज्यं दत्त तदेवोद्दिश्य केनाप्युच्यते इति निश्चयानन्तरं
किञ्चित्परिक्रामन्गठति । लोकव्यवहारेऽपि काऽपि अभिनिविष्टस्तथाभूत-
परामर्शो एवमेव करोति ।

किं पठतीत्याह—किं स्मृतन्त्येति । किमिति परामर्शः । किं
स्मृतन्त्यर्थः, मया स्वस्य-आत्मनो, बान्धवेषु जगन्मल्लादिवान्धवेषु,
जनेषु-साधारणजनेषु च । अनादगतिशयात् स्वबान्धवजने इत्यत्रैक-
वचनम् । हेतिः वह्निज्वाला, गृह्यताम् । अयं मानः स्वातन्त्र्यमुद्धया
विधीयमाने यत्ने गृहकलहाग्निज्वालाया सर्गानपि आत्मना बान्धव-
प्रजादींश्च भस्मसात्कुर्याम् । यद्वा—किं स्वातन्त्र्यार्थं, स्वे-स्वकीये, बान्ध-
वजने जगन्मल्ले, हेतिः शस्त्रं, गृह्यताम्, तज्जयेन राज्यप्राप्त्यर्थमिति
भावः । किं वा, स्व विषयं विहाय, राज्यतः स्वकीयं संबन्धं विज्जिह्व ।

(इतस्ततोऽवलोक्य —) मद्भागहरणवृद्धिर्गर्वप्रध्वस्तभागधेयोऽसौ ।

कोपानले पिपतिपुर्धावति को यमपुरीं गन्तुम् ॥५॥

विमृश्य—आम् । ह्यातम् । पित्रा जगन्मल्लाय राज्यं दत्ताम् । तदेवो-
द्दिश्य केनाप्युच्यते । (अथ किञ्चित्परिक्रामन् पठति)

किं स्वातन्त्र्यकृते स्वबान्धवजने हेतिर्मया गृह्यतां

किं वा स्वं विषयं विहाय विपिनं शान्त्या समासेन्यताम् ।

संघर्षात्स्वजनेषु दास्यपदवीं मा गात् प्रजा मेऽधुना

बाढं वा मरणं भवेन्मम न तु स्यान्म्लेच्छदृष्ट्या धरा ॥६॥

(इति विमृशन्पुनरितस्ततः परिक्रामति ।)

किमौर्ध्वदैहिकं कृत्यं पितुः पूर्वं विधीयताम् ।

किं वा देशपरित्याग इति दोषायते मनः ॥ ७ ॥

यद्वा स्व विषयं-देश, विहाय त्यक्त्वा, शान्त्या-शान्तिपूर्वक, विपिनम्-
अरण्य समामेव्यताम् । मोक्षेच्छया शान्तिपूर्वकमेव तत्सेवनं, न तु
भयेन कातरधिया वेति भावः । एतदेव समर्थयति । स्वजनेषु स्वकीय-
बन्धवर्गेषु, संघर्षात् परस्परकलहेन शक्तिवयात्, अधुना मे प्रजाः स्वस्य
राज्येऽधिकारान्मम प्रजा. दास्यपदवीं दासताया मार्गे मा गात् प्रजासु नै-
कोऽपि दासता व्रजेदित्येकवचनम् । यद्वा प्रजा मम सन्ततिः । 'प्रजा स्यात्
सन्तती जनै' इत्यमरः । यद्यपि जाते सधर्षे इदानीमेव दासता न प्राप्स्यति
पर त्वेव सति दास्यपदवी निर्मिता भविष्यतीति तन्निर्मितौ प्रजा ता पदवीं
प्राप्स्यतीत्यर्थः । वा अथवा बाढ-निश्चयेन, मम मरणं भवेत् । मया
संघर्षमिथा राज्यत्यागादरण्यगमने कृते बान्धवो निष्कण्टकराज्यापभोग-
बुद्ध्या मा कण्टक मन्यमानोऽरण्ये मा हनिष्यतीति इन्तु नाम, पर मम
धरा म्लेच्छदृष्ट्या न स्यात्, म्लेच्छेन यवनाधिपतिना अकबरेण दृष्टा अपि
न स्यात् किमुत तदाधिपत्यं स्यात् । अत्र स्वकीयमरणादपि अकबरकृत-
स्वकीयधरादर्शनमनिष्टकरमिति तात्पर्यार्थः ॥ ६ ॥

अथ देशत्यागनिश्चयेऽपि किमधुनैव देशत्यागं कर्तव्यः, किं वा पितु-
रौर्ध्वदैहिकक्रियानन्तरमिति विचारयति—किमौर्ध्वदैहिकमिति । किम्-
ऊर्ध्वदैहनिष्पादक पूर्वं पितुः कृत्यं दशगात्रादिकं विधीयताम्, मयेत्यध्या-

(सालुम्बममिलक्ष्य) आः पश्य, प्रधानमन्त्रिसमन्वितो जगन्मल्लः इत एव वितानप्रदेशे समायाति । अत आवां दूरस्थितौ भूत्वा तत्रोपविश्य पश्यावः—‘किमसौ विदधाति ।’ (इति तथा कुरुतः ।)

(ततः प्रविशति वितानप्रदेशे विटचेटक-चूडावत्प्रधानमन्त्रिसमन्वितो जगन्मल्लः । अथ सर्वे यथास्थानमुपविशन्ति)

प्र० मन्त्री—महाराज ! ज्ञातिदेशप्रथानुरोधेन पूर्वं राज्यपीठाधिरोहणं विधाय अभिषेकानन्तरमेव पितुरौर्ध्वदैहिकी क्रिया कर्तव्या ।

हार्यम् । किं वा तदाऽपि पूर्वमेव देशपरित्यागः विधीयताम्, इति मे मम मनः, दोलायते—दोलेव कदाचित्पूर्वविचाराभ्रयि भवति, कदाचिदुत्तरविचाराभ्रयि भवति । यद्वा-दोलेव कदाचिद् ओजोगुणप्राधान्याद्वीरराश्रयितया ऊर्ध्वं गच्छति । कदाचिच्च हिंसाबाहुल्यात् अनिष्टशङ्कया च वैराग्यात् अधो गच्छति । यद्वा-पितुः कृत्यसंवादनाय युद्धकरणे हिंसाबाहुल्यात् अधो गच्छति, वैराग्यात्पराहित्येन ऊर्ध्वं गच्छति । द्विविधा दोला भवतीति तथैव व्याख्यातमिति । ‘रूप वाक्य वितर्कवद्’ इति लक्षणात् रूपाख्य गमाङ्गम् ॥ ७ ॥

सालुम्बमिति । सालुम्बं प्रति कथयति—आः पश्येत्यादि ।

विटचेटकेति । एते नायकस्य सहायका भवन्ति । तथा चोक्तम्—‘शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः । भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानमञ्जनाः शुद्धाः ।’ अस्य नायकस्य प्रतिनायकस्य च सहाया एते । प्रधाननायकस्यैवेति तु न नियमः । अत एव मृच्छकटिके शकारस्याप्येते सहाया दर्शिताः । तत्र विटः—“संभोगहीनसंपद्विटस्तु धूर्तः कलैकदेशजः । वेशोपचारकुशलो चाग्मी मधुरोऽय बहुमतो गोष्ठधाम्” । चेटः—शृङ्गारिकोऽनुचारः । प्रथानुरोधेनेति । अत्रेदं बीजम्—राज्यपीठाधिरोहणात्पूर्वमेव विधीयमाने मृतस्य पूर्वराजस्य दाहे यावत्काल कश्चित् राजा सिंहासने नोपविशति तावत्कालमराजकं तद्राज्यं संपद्यते । अनन्तरमवश्वापरः प्रत्यनीकराजः आक्रमेत, अनधिकारिकश्चावकाशमादाय केषाचित्सा-

विटः—युज्यते चैवम् । अतो राज्याभिषेकोत्सवे पूर्वं द्राक्षायाः
सुरा आनीयताम्, गणिका च ।

जगन्मल्लः—चेटक ! युक्तमुक्तं विटेन, अतस्त्वरितमेव राज्या-
भिषेकोत्सवानुरूपं सर्वं संपादनीयम् ।

चेटकः—जं देवो आणवेदि ।

यद् देवः आशापयति ।

(ततः सुरामादाय गणिकया सह मार्गे गच्छति चेटः ।)

चेटः—अयि माउले !

अयि मातुलि !

अज्ज रज्जुच्छवे तुज्झ धणं दावेमि जं बहु ।

अद्य राज्योत्सवे तुभ्य घन दापयामि यद् बहु ।

तयद्दमागो अम्हाण तुम्हे स्ति पडिवज्जह् ॥ ८ ॥

तदर्थमागोऽस्माकं यूयमिति प्रतिपद्यस्वम् ॥ ८ ॥

हाव्येनाधिपत्यं गच्छेच्च । और्ध्वदैहिकीति । दाहानन्तरं दशगात्रोपपि-
रडादिभिः सपाद्यमाना । राज्याभिषेकोत्सवानुरूपमिति राज्याभिषेकौ-
हेशिकस्य उत्सवस्यानुरूपमिति भावः । तदनु रूपं च नृत्यगानसुरापाना-
दिकमेवेति तत्तात्पर्यम् । अयीति । अयि इति संबोधने । 'मातुलि' इति
नीचानामुक्तयः । मायशो मातुलादिसम्बन्धाभावेऽपि तथा ध्रुवन्ति ।

अज्जेति । अद्य राज्योत्सवावसरे यद् बहु धनं द्रव्यवस्त्रादिकं तुभ्यं
दापयामि दापयिष्यामि । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इयि भविष्यदर्थे
लट् । तदर्थमागः—तस्य प्राप्यद्रव्यस्य अर्थमागः, अस्माकं भवतु, यूयम्,
इति मदुक्तं स्वीकुरुत । अत्रैकवचनस्य प्रकान्तत्वेऽपि अस्मादो द्वयोश्चेत्येक-
वचने बहुवचनम् ॥ ८ ॥

तुभ्यमिति । 'दृश्यमाना प्रीयमाणः' इति चतुर्थी ।

आः कुर्वन्तीति—आः इति अत्यन्तदुःखप्रदर्शनानुरूपे । कुर्वन्तीति
क्रियाया एते इत्याह्वयते एते लोकाः, दिवं गतस्यापि—स्वर्गं गतस्यापि,
मदिरा सुरा पीत्वा, ऊर्ध्वक्रिया—दशगात्रोपपिरडादिना ऊर्ध्वदेहध्वनिघनी

वेश्या—यथा तुभ्यं रोचते ।

(ततः सुरामादाय गणिकया सह गच्छन्त चेष्ट विलोक्य
विलपति प्रतापः ।)

प्रतापः—आ कुर्वन्ति दिवं गतस्य मदिरां पीत्वा पितुर्दुष्क्रियां
किं कुर्यां, वसुधे, पिबेहि ननु मां स्वाङ्के, चिरं मा कृयाः ।
यत्तातः क्रिययाऽनया विहितया सद्धार्मिकाणां वरो
देवत्वादपनाय्य जीवति मयि प्रेतत्वमापाद्यते ॥ ६ ॥

(इत्युद्दिग्गमना दीर्घमुच्छ्वसिति ।)

क्रिया कुर्वन्ति । प्रकृतत्वात् येन पिना अस्मै राज्यं दत्तं तस्य दिव्यं गतस्य
पितुरिति बोध्यम् । एतेन महाकृतघ्नोऽकार्यकारी चायमिति व्यज्यते । अथ
उभयसाधारणं जनकत्वसम्बन्धमवगत्योद्दिग्गमः सन् कथयति किं
कुर्यामित्यादि । प्रधानमग्निं पक्षपातित्वात्, पित्राऽस्मै एव राज्याधि-
कारदानात्, इठाद्विरुद्धाचरणे गृहकलहाग्निभयादनिष्टशङ्कातश्च किकर्त-
व्यताविमूढः कथयति—किं कुर्यामिति । नाहमिदानीं किमपि कर्तुं शक्तः ।
तस्मात् दे वसुधे ! ननु निश्चयेन मा प्रताप स्वाङ्के स्वकीयोत्सङ्गे, 'उत्सङ्ग-
चिह्नयोरङ्कः' इत्यमरः । पिबेहि—आच्छादय । विदोषां सती त्वं मा स्वान्त-
स्थापयेति तात्पर्यार्थः । चिरं मा कृयाः, विलम्बं न विबेहि । 'माङ्गि लुब्धः'
इति लुब्धः । विलम्बासहस्रे हेतुः प्रदर्शयति । यद् यस्मात् कारणात्,
सद्धार्मिकाणाम् उत्तमधर्माचारिणां वरः, एतेन शिवाराधनमगवद्भक्त्या-
द्युत्तमधर्माचारिणु सवोत्तमस्वमस्य सूचितं भवति । एवमूतस्तात, विहितया
कृतया मद्यपानस्य पूर्वं कृतत्वात् करिष्यमाणानामपि अपरेषामङ्गानां
तददूषितत्वमविरुद्धमेव । अनया पुरो दृश्यमानया वेश्याससर्गादिदूषितया
क्रियया, मयि जीवति सति देवत्वादपनीयं स्वकृतकर्मप्रभावता देवत्वप्राप्ति-
योग्यतासपक्षेऽपि ताते तथामूतक्रियाकलापवशात् देवयोनेर्निरास्य प्रेतत्व-
मापाद्यते प्रेतयोनिं प्राप्यते । क्रियाफलनलात्तातः प्रेतयोनिं प्राप्यते ।
अकथितं चेति प्रधाने कर्मणि प्रत्ययः । तथामूतक्रियादर्शनात्पूर्वमेव
मन्मरणं भवेति भावः ॥ ६ ॥

(नेपथ्ये)

प्रताप ! धैर्यमवलम्बस्व । भगवदाराधनतत्पराणां नैव-
विधा क्रिया भवति ।

(ततः सुरामादाय गणिकया सह प्रविशति वितानप्रदेशे चेदः, सर्वे
यथास्थानमुपविशन्ति, सुरा पिबन्ति च ।)

प्रतापः—(दूतस्तदवलोक्य मनसि) कथं देवा अपि विप्रलम्भयन्ति ।
पश्यन्तु ते ।)

सुरा पिबत्येष मदीयग्रान्धव

क्रियां चरिष्यत्ययमित्यपि ध्रुवम्

नचोद्यते स्वीयजनेष्वसिर्मया

सुराः कथं नैव मृषा वदन्त्यतः ॥ १० ॥

विदः—शोभनेयं सुरा । मधुरोन्मादिनी च ।

चेदः—सुराओ अम्हे माउलाणी अइसोहणा । उअ—

सुरातोऽस्माक मातुलानी अतिशोभना । पश्य—

दिट्ठी पफुल्लसरसीरुहतुल्लरूपा

दृष्टिः प्रफुल्लसरसीरुहतुल्यरूपा ।

नेपथ्ये—कुतोऽप्यदृष्टस्थानाच्छब्दोच्चारणविषयीभूते स्थाने ।

भगवदिति । भगवदाराधनफलबलात्प्रत्यक्षविषयीभूतायामपि तथा-
भूतसामग्र्यामतिकृतप्रतिबन्धप्राप्तेर्नैवविधा-प्रेतत्वाद्यशुभयोनिप्राप्तिका क्रिया
भवति । विप्रलम्भयन्ति—प्रतारयन्ति । ते प्रत्यक्षत एव विलोकयन्तु ।

चेदः स्वानीतवेश्यायाः शरीरसौन्दर्यं वर्णयन् सुरातस्तस्यामाधिक्य
च दर्शयति—दिट्ठीति । अस्याः-वेश्यायाः दृष्टिः प्रफुल्लस्य सरसीरुहस्य
तुल्य रूपमाकार सौन्दर्यं वा यस्या तथाभूताऽस्ति । शुभ-कल्याणकरम्
'से'अस्या, आनन-मुख, सपूर्णचन्द्रसदृश पूर्णचन्द्रवदाह्लादजनकम् ।
से-अस्या इति घण्टाओलान्यायेन उभयत्र संबध्यत इति । अस्याः
लावण्य सर्वपात्रवयत्राना सस्यानसौभाग्य कान्तिर्वा, रूप सौन्दर्यम्,
पुनस्तयोर्द्वन्द्वः । 'द्वन्द्वश्च प्राणित्यति' प्राणयज्ञत्वादेकवद्भावः अरविन्देन

सुधोद्भवा खञ्जनदृक् शुभस्तनी

सुधामुजामूर्भवेव राजते ॥ १३ ॥

(तत प्रविशति कर्मकाण्डकोविदपुरोहित ।)

मन्त्री—कुमार ! ससामग्रीकः पुरोहितः समुपस्थितः । अतो

राज्याभिषेककार्यारम्भो विधीयताम् ।

चैटः—(सखेव सनिर्वेद च नोचै हररेण)

कुवो सिञ्चालपुत्रो समुवदिष्ठो ।

कुत श्यालपुत्रः समुपस्थितः ।

जग०—यथा भवतामनुमतिः । (वेश्यादय एकतोऽयसर्वन्ति ।)

मन्त्री—पुरोहित ! राज्ये जगन्मल्लस्याभिषेकः क्रियताम् ।

अथ विटो जगन्मल्ल सतोपयस्ता वर्णयति इयमिति । रतिक्रियाया
ये मेदा विभेदाश्च, तेषु पण्डिता । रतिविषयककलाकौशल्यवती इय
भुजिभ्या परिचारिका, परिचारिकास्वरूपेण रक्षमाणा । भवत अनुह-
पिणी—रतिविषयककलाकौशल्यधाम्यात् भवत एव याग्याऽस्ति । एतेन
स्वमपि रतिविषयककलाकौशल्ययानसीति सूच्यते । सुधोद्भवा—सुधाया
उद्भवो यस्या सा । पूर्ववर्णित सुधामिय कलेवरे निषिञ्चतीत्यादिक विट
सर्वथा स्फुटवर्णनेन समर्थवति—इय सुधोद्भवा । अत एव कटाक्षविचे
पादपि सुधा निषिञ्चति । कार्यगुणा हि कारणगुणानाश्रयन्ते इति
नियमात् । तथा खञ्जनदृक् खञ्जन इव दृशो दृशी यस्या सा । अत्र
सादृश्य खञ्जन इव, श्वेतस्यामतया चाञ्चल्याच्च खञ्जनेन औपम्यम् ।
शुभस्तनी मुन्दरस्तनयुक्ता । सुधामुजा देवाना सम्पन्विनी, ऊर्मम
उर्वशी इव राजते । विष्णुना जह्वातः उर्वशी समुत्पादिता इति पौरा
णिकी कथाऽननुसंधेया ॥ १३ ॥

पुनरुक्तं सन्पुरोहित उदयसिंहस्य कातरता दर्शयति ।

सांगमभटेति एष वीर प्रताप सागामस्य समनन्तरमेव यदि जात
अभविष्यत्, तदा सकला-समस्ताऽपि, मू समस्तमपि भारत वर्पमित्यर्थः,
स्वातन्त्र्यम् आप्नुवत्, अत्र क्रियाया अनिष्पत्तिर्गम्यते एव । यस्मात्सागा-

पुरो०—यदाज्ञापयन्ति भवन्तस्तत्प्रमाणम्, परं तु—
(इति मौनमास्थितः ।)

मन्त्री—विस्त्रब्धं ब्रूहि, यदपरं वक्तव्यम् ।

पुरो०—इदमपरं वक्तव्यम्, यद् राज्ये ज्येष्ठपुत्रस्यैवाधिकारः,
न कामप्ययोग्यतां ज्येष्ठपुत्रे प्रतापे विलोकयामः, नापि
केनापि कारणेन प्रतापमनधिकारिणं तर्कयामः ।

मन्त्री—यदा महाराजेन उदयसिंहेन जगन्मल्लाय राज्यमदायि,
तदा कथमिदं नोक्तम् ? ।

पुरो०—महाराजं मरणासन्नमवलोक्य तदात्मनो व्यर्थमेव
होशसंपादनाय नोक्तम् । निर्धारितं चैतत्, यत्स्वतः
एवानन्तरं युक्तमेव भविष्यति ।

किञ्च—साँगाभटानन्तरेतः प्रतापो,
जातोऽभविष्यद् यदि चैष वीरः ।

स्वातन्त्र्यमाप्स्यत्सकला तदा भू-
मध्ये न चाभूदुदयस्त्वधीरः ॥१४॥

नेपथ्ये—

साधु पुरोहित ! बृहस्पतिमते ! साधु । एवमेवैतत् ।

(तत्समनन्तरमेव प्रतापमादाय प्रविशति भलारावनरेशसालुम्ब-
समन्वितो रावतकृष्णः ।)

भटस्य समनन्तरं प्रतापो न जातः, अस्मादेव समस्तः भूः स्वातन्त्र्यं
नाप्स्यत् । पुनस्तदेव समर्थयन्त्याहयति—अधीरः, उदयः-उदयसिंहः, मध्ये-
साँगाप्रतापयोर्मध्ये, न च-नैव अभूत् । तयोर्मध्ये उदयसिंहसद्भावादेव
भारतं स्वतन्त्रं नाभूत्, एतेन उदयसिंहकार्यं पराधीनताप्रापकमिति जग-
न्मल्लस्याभिप्रेकमक्षिपति । प्रतापस्य च राज्याभिप्रेके कृते उदयसिंहस्य
मध्ये सद्भावात् समस्तं भारतं स्वतन्त्रं न भवेत्, परमेवमपि मेवाहं स्वतन्त्र-
मेव भविष्यतीति प्रतापाभिप्रेक एव कर्तव्य इति तदाशयः ॥ १४ ॥

पुरोहित इति—पुरः अग्रे प्रत्यक्षतः पुरतो वा हितं यस्मानिति अग्न-
यमेव ते नामास्ति । बृहस्पतेर्मतिरिव मतिर्यस्य, यथा बृहस्पतिः, .

रावतकृष्णः—मन्त्रिन् । राज्ये कस्याधिकारः ? प्रतापस्य
जगन्मल्लस्य वा ? को वाऽनयोर्योग्यः ?

मन्त्री—उदयसिंहमहाराजेन जगन्मल्लाय राज्यं दत्तम् ।

रा० कृष्णः—(सक्रोधम्) कस्मै दत्तमिति न पृच्छ्यते । किं तु
कस्याधिकारः ? को वा योग्यः ?

मन्त्री—प्रतापस्यैवाधिकारः, स एव योग्यश्च ।

योषि निर्भयतया स्वमुखनिरपेक्षतया याथाव्येन युक्तायुक्तविचारपूर्वकं
करोति, एवं स्वमपि निर्भीको यथार्थवक्तेति भावः । एवमेवेतद्विति नेपथ्य-
स्यैरनिरपेक्षैर्ब्राह्मणादिभिर्देवैर्वा समर्थ्यते । एवमेवेत्यादिना । सर्वथा
त्वदुक्तमुचितमिति भावः । मन्त्रिन्निति । मन्त्रिन् ! रहस्यविचारेषु
यस्य बुद्धिः प्रसरति, । सर्वयोचितविचारकारिन् ! । कस्याधिकार
इति साऽविच्छेदमादिशति । प्रतापस्य जगन्मल्लस्य वा ? ज्येष्ठपु-
त्रस्यैव धर्मशास्त्रेष्वधिकारसमर्थनात्स एव योग्यो भवति । अथ ज्येष्ठ-
पुत्रोऽपि क्वचित्पित्राणां विरुद्धाचरणान्नीचगुणयुक्तत्वात्पतितत्वादिदोषा-
च्चायोग्यो भवतीत्याह—को वाऽनयोर्योग्यः । पितृभक्त्याद्युत्तमगुण-
युक्तः प्रजावत्सलो धार्मिकश्च प्रताप एव योग्य इति तत्तात्पर्यम् । मन्त्री
तत्प्रश्नोत्तरमदत्त्वा छलेन जगन्मल्लं समर्थयन्—‘महाराजेन जगन्मल्लाय
राज्यं दत्तम्’ इत्युत्तरयति । पितुरधिकारात्स यस्मै दद्यात्तस्यैव राज्यम् ।
को वा योग्यः को वाऽयोग्य इति तु उदयसिंहो जानीताम्, मया तु
यस्मै दत्तं तस्यैवाधिकारो मन्यते । सक्रोधम् एतेन यदि त्वयोचित्ये
विचारो न क्रियते तदा अहं शस्त्रसाहच्येन हठाद् योग्यमेव स्थापयि-
ष्यामि । कस्मै इति । इदं तु मया पृष्टमेव न, कथमन्यत्पृष्टमन्यदुत्तरयति
इति छलं मा कुरु । अथ त्वया मम प्रश्नो नावगत इति चेत्तर्हि पुनः
कथयामि-कस्याधिकारः को वा योग्यः, अधिकारिणं योग्यं च कथय ।
अधिकारिणो योग्यस्य च प्रतापस्य स्वीकारात्तत्समर्थनं स्वत एव
फलप्राप्तीति तदाशयः । अथ मन्त्री प्रतापस्याधिकारं योग्यता च
स्वयं स्वीकरोति—स एव योग्यश्चेति । चतुर्विंशतिष्वपि भ्रातृषु प्रताप
एव योग्यः, नेतरे । अनैवकारेण इतरेषां व्यावृत्तिरपि विधीयते ।

रा० कृष्णः—तर्हि (अङ्गुल्या निर्दिशन्) अयमेवाभिपिच्यताम् ।

मन्त्री—परं तु अयं न स्वीकरोतीति श्रुतम् ।

रा०—कृष्णः—कथं न स्वीकरिष्यति ।

मन्त्री—यदि अयं स्वीकुर्यात्तर्हि 'स्वर्णे सुगन्धः' इत्यहं मन्ये ।

एवं सति आर्यगौरवरक्षा चिरस्थायिनी भविष्यति ।

(ततः प्रतापमिमुखं सर्वे उपतिष्ठन्ते ।)

पुनः रावतकृष्णस्तस्वीकृतिं कार्यान्विता विधातुमाह—तर्हि अयमेवाभिपिच्यतामित्यादिना । एवं च तदभिपेके भवतोऽनुमतिरस्तीति शायते ।

मन्त्री स्वविरोधं परिहरन् तस्यानभिपेके स्वदोषं च वारयन् कथयति—परंतु इति । यद्यपि अहं तमेवाभिपेक्षुमिच्छामि । परंतु स प्रतापः स्वीकरोत्येव न । एवं च तदस्वीकारादेव अगत्या जगन्मल्लमहमभिपिञ्चामि । अधिकारिणः प्रतापस्य त्यागादनधिकारिणु मध्ये पित्रा जगन्मल्लाय दत्तमिति कृत्वा जगन्मल्लस्यान्यापेक्षया अधिकारात् । किञ्च यथा प्रतापो न स्वीकरोत्येवमन्येऽपि न स्वीकरिष्यन्तीति जगन्मल्लमभिपिञ्चामीति तदाशयः । पुनः रावतकृष्ण आह—स कथं न स्वीकरिष्यतीति । स त्वद-श्यमेव स्वीकरिष्यतीति भावः । त्वया तथाभूतो यत्न एव न विहितो येन स स्वीकुर्यात्, किं तु अहमिदानीमेव तं स्वीकारयिष्यामि । अथ मन्त्री तदभिपेके सर्वथा स्वविरोधं परिहरन् परमप्रसन्नतां प्रकटयति—यदि स स्वीकुर्यादित्यादिना । 'जातुयदोर्लिङ्' इह 'यदायद्योरुपसंख्यानम्' इति भविष्यदर्थे लिङ् लृटोऽपवादः । 'स्वर्णे सुगन्धः' इति असंभावितामेव तत्कृतां स्वीकृतिमहं मन्ये । यथा प्रयत्नशतैरपि स्वर्णे सुगन्धो नोत्पादयितुं शक्यः, एवं तत्कृता स्वीकृतिरपि असंभावितैव । एतेन प्रतापस्य राज्याभिपेके मया महान्प्रयत्नो विहित इति दर्शितं भवति । अथ वा-स्वर्णे स्वत एव बहुमूल्यं सुशोभनं च वस्तु, तत्र यदि सुगन्धः स्यात्तदा तु अवर्कित एव महान् लाभः स्यात् । एवमेव प्रतापस्य राज्याभिपेके महान् लाभ इत्यर्गद्वयेन विरोधपरिहारः प्रसन्नता च प्रकटितौ भविष्यतः । एवं च तत्कृते राज्याभिपेकस्वीकारे फलं दर्शयति—आर्यगौरवरक्षेत्यादिना ।

रा० कृष्णः—प्रताप ! केयं भवतोऽनुदारता

विधर्मिणो रक्षसि यत्र च प्रजाः ।

स्यातन्त्यरक्षासु दृढव्रता वयं

क्व याम कं वीरमुपाश्रयेम वा ॥ १५ ॥

सालुम्बः—रणाङ्गणेऽनारतमुत्सवप्रियं

साँगाह्वयं तं स्वपितामहं स्मरेः ।

आर्याणां गौरवरक्षा, न खलु मेवाङ्गप्रदेशमात्रस्य गौरवरक्षा चिरस्थायिनी भविष्यति किन्तु सर्वेषामस्मदादीनामपि गौरवरक्षा चिरस्थायिनी भविष्यति । एतेनास्माकमेव प्रतिष्ठाप्ताम इति स्वकीयमेव कार्यं तत्स्वीकृतौ धनयति । इदमार्याणामस्माकमेव कार्यमिति कृत्वा सर्वे प्रतापाभिमुखं क्रियाविशेषणमेतत् उपतिष्ठन्ते । ‘उपतिष्ठन्ते’ इत्यत्र ‘अकर्मकाच्च’ इत्यात्मनेपदम् । प्रथम रावतकृष्णस्तत्प्रशसानुपूर्वकं तं सजीकरोति—

प्रतापेति । हे प्रताप ! भवतः इयं का अनुदारता, न होतादृश्यनुदारता भवादृशेषूचिता भवति । का इत्यनेन सखेद विमर्षति । अथ त्वं वदेः नाहमनुदारता करोमि किन्तुदारभावात् राज्यमपि त्यक्त्वा विपिनं ब्रजामीति तदनुदारता परिहरन्त्वाभिमतानुदारता दर्शयति (विधर्मिण इत्यादि) मुगमम् । रक्षासु दृढव्रता वयं क्व याम । वीराभयिणामस्माकमन्यद् गतिस्थानं नास्तीति कुत्र वयं तिष्ठेम । त्वया कातर्यं कृते अकालमरणमेवास्माकं भविष्यतीति व्यज्यते । अथैवं वदेरन्यं वीरमनुयात, तत् आह । क्व वीर वयमुपाश्रयेम । यदि त्वदतिरिक्तोऽन्यो वीरोऽस्ति तर्हि त्वमेव सन्नामोच्चारय । एतेन त्वदतिरिक्तस्य अस्मदधिकस्य तपामूतवीरस्य अभाव एवेति बोध्यते । तस्मादस्माकमकालमरणं मा भूदित्यस्मासु दया विधाय स्वामिपेकं स्वीकुरुष्वेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अयं सालुम्बः प्रतापं प्रोत्साहयन्नाह—रणाङ्गणे इति । अनारत-सततमेव, रणाङ्गणे—रण एव अङ्गणं तत्र, उत्सवप्रियम्—प्रिय उत्सवो यस्य तम् । ‘वा प्रियस्य’ इति वैकल्पिकः प्रियेत्यस्य पूर्वनिपातः । साँगाह्वयं—‘साँगा’ इतिनामकं तं प्रसिद्धं स्वस्य आत्मनः पितामहं स्मरे । यः सदैव रणाङ्गणमेवोत्सवस्थानममन्यत तं लोकविरुद्धात् साँगा स्मरेरिति भावः ।

स्लेच्छाधिपादार्यगुरुत्वरक्षणे

यदीययत्नः सफलत्वमाययौ ॥ १६ ॥

प्रता०—(पुनरुत्तरार्द्धे पठति 'संघर्षात्स्वजनेष्वित्यादि')

भालारावनरेशः—कोऽयमस्थाने उद्वेगः । कथं नाम स्वजनेषु
संघर्षः, त्वमेवास्य देशस्याधिपत्ये योग्योऽ-
सीत्यस्माभिः सर्वैर्मन्यते ।

जातोऽहंपूर्विकायां मम सुभटगणो धैर्यशौर्यादियुक्तो
स्लेच्छानामुत्तमाङ्गान्यधिसमरमटन्खण्डशो यो व्यधत्त ।

एतेन पूर्वजानामनुसरणं श्रेयस्करं धर्मसाधकं चेति बोध्यते । यदीययत्नः-
यत्सम्बन्धी यत्नः, स्लेच्छाधिपात्-स्लेच्छराजात्, बाबरनामकात्,
आर्यगुरुत्वस्य रक्षणे-आर्यगौरवरक्षणे, सफलत्वम्, आययौ-तदीयो यत्नः
सफलो यम्ब । आर्यगौरव रक्षितमभूदित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ प्रतापस्तथाकरणे गृहकलहार्नि संभावयन् पुनरुत्तरार्द्धम्,
'संघर्षात्स्वजनेषु दास्यपदवीं मा गात् प्रजा मेऽधुना । वार्दं वा मरणं
भवेन्मम न ॥ स्यान्स्लेच्छदृष्टा धरा' इति पठति । अथ ग्वालियरनरेश-
स्तदुक्तिं निरस्यन्नाह कोऽयमित्यादि ।

अथ संघर्षसंभावना निरस्य पुनस्तं प्रोत्साहयति—जातोऽहमिति ।
धैर्यशौर्यसाहससहिष्णुतादिगुणयुक्तः, अहंपूर्विकायां जातः "अहं पूर्वमहं
पूर्वमित्यहंपूर्विका स्त्रियाम्" इत्यमरः, अहं पूर्वं युद्धाय गमिष्यामि, अहं
पूर्वं युद्धाय गमिष्यामि इत्येवंरूपेण जातः समुत्पन्नो यो लोकोत्तरशौर्य-
शालितया प्रसिद्धः, मम सुभटानां गणः—सैनिकानां समुदायः, अधिष-
मरम् अटन् स्लेच्छानां यवनानाम्, उत्तमाङ्गानि तेषां मस्तकानीत्यर्थः,
खण्डशः व्यधत्त । सर्वः समस्तः सः पूर्वोक्तः सुभटगणः, सूरं-सूर्यं भित्त्वा,
प्रलयम्-अपुनरावर्तिनाशम्, उपगतः-प्राप्तः, युक्तोऽभूदित्यर्थः । उक्तं हि
"द्राविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ । परित्राह् योगयुक्तश्च रणे
चाभिहतश्च यः" । निघ्नत्वम्-अधीनता, नैव प्राप्तः । स्लेच्छानामेव
अधीनो नाभूदित्येव न, किन्तु कस्यापि अधीनो नाभूदिति भावः । तत्

सूरं भित्त्वा स सर्वः प्रलयमुपगतो नैव निघ्नत्वमाप्नो-

युष्माभिर्गौरवं तद् यवनरक्षभिया हेलया नाश्यते किम् ॥१७॥

प्रतापः—नाहं रणाद् विभेमि । यदि मत्कृते आर्याणां गौरव-
रक्षेति भवतां निश्चयस्तदाऽह सर्वस्वत्यागेनापि
आर्यगौरवं रक्षिष्यामीति प्रतिजाने ।

सद्य—साधु साधु स्ववंशानुचरितमेव प्रतिज्ञातम् ।

मन्त्री—अथेदमप्यस्माकं वक्तव्यम्, यन्मेवाहदेशाधिपतित्वे-
नहि नहि आर्याधिपतित्वे-भवतामेवाधिकार इति अत्र-
भवन्तं भवन्तमेवाभिर्पिपत्तामः ।

गौरव—स्वातन्त्र्यरूप गौरव, युष्माभि, शौर्यधैर्यप्रसिद्धे । पूज्यत्वात्
बहुवचनम्, यवनरक्षभिया—यवनानां सग्रामभयेन, हेलया अनादरेण,
किं नाश्यते । एतेन न ते त्वा जेतुं समर्था इति सूच्यते । तस्मात् भयं
त्यक्त्वा सज्जीभूय स्वातन्त्र्यगौरवं रक्षेति भार ॥ १७ ॥

प्रतापः स्वाभिमतं प्रकटयति—नाहमित्यादिना । यदि 'मत्कृते' मया
कृते-मत्कृते, 'युष्मदा' तृतीयेति योगविभागाद्वा समासः । मया कार्यं
कृते इति युष्माकं निश्चयस्तर्हि अहं सर्वस्वत्यागेन—राज्यादिसमस्तवस्तुत्या-
गेन, आर्यगौरवं रक्षिष्यामि, न खलु आत्मगतमेव गौरवं प्रतिपाल-
यिष्यामि किन्तु परगतमपि गौरवं रक्षिष्यामीति प्रतिज्ञास्वरूपमुक्तम् ।

स्वयंशेति । स्वयंशस्य अनुचरितमेव, यथा त्वत्पूर्वजेन सांगा-
नृपेण प्राणपण्येन आर्यगौरवरक्षा कृता तथैव त्वयाऽपि प्रतिज्ञातम् । एतेन
त्व सांगानृपादप्यधिकतरं गौरवं प्राप्स्यसीति बोधितं भवति । अस्माक-
मिति । न खलु ममैव किन्तु सर्वेषामस्माकम् । किं वक्तव्यमित्याह मेवाह-
देशादि । अथ त्वरया भ्रमाद्वा उच्यमाना मेवाहदेशमात्रतः सप्तभ्रम निर-
स्यति—नहि नहीति मेवाहदेशमात्राधिपतित्वे भवतामधिकार इत्येव न,
किन्तु समस्तभारतवर्षे विद्यमानानामार्याणामधिपतित्वे भवतामधिकारः,
ततश्च त्वमेव आर्याधिपतिरिति सूचितं भवति । एतेन लोके 'हिन्दूपति-'
रिति प्रसिध्यमानं नाम बोधितं भवति । भवन्तमेव न स्वन्वम् । अभि-

प्रतापः—यथा भवद्भयो रोचते । न मे विप्रतिपत्तिः ।

(ततो रावतकृष्णम्बालियरनरेशप्रभृतयः प्रतापं सिंहासने
उपवेशयन्ति, पुरोहितश्चाभिपिञ्चति ।)

पुरो०—

आर्यस्थितीनां परिरक्षणार्थमसिञ्चते त्वामभिपेचयामः ।

विजित्य शत्रून्खिलां स्वगोत्रां गोत्रानुगां त्वं प्रतिपालयस्व ॥ १८ ॥
इत्याशिपं ददाति ।

(ततो देशकुलाचारानुरूपं सर्वे उपायनान्युपहरन्ति ।)

(अथ बैतालिकौ प्रविशतः ।)

पिपिञ्चामः—वयं सर्वे अभिपेक्षुमिच्छामः । सोपसर्गत्वात् 'स्थादिष्वभ्या-
सेन चाभ्यासस्य' इति पत्वम् । अयं प्रतापः संधर्षभिया स्वाभिपेक्षे ताटस्थ्यं
प्रकटयति—यथा भवद्भयो रोचते । यदि भवन्तः सर्वेऽप्येकमत्येन
मामभिपेक्षुमिच्छन्ति तर्हि अभिपिञ्चन्तु । मम विप्रतिपत्तिः—स्वाभिपेक्षे
विरोधो नास्ति । एतेन मामेवाभिपिञ्चन्तु इति ममाभिनिवेशोऽपि
नास्तीति स्फुटं व्यनक्ति । अभिपिञ्चतीति—सजलेन कुशप्रयेण वैदिक-
मन्त्रेणाभिपिञ्चति ।

पुरोहितः पुष्पैराशिपं ददत् पठति—

आर्यस्थितीनामिति । आर्याणां स्थितयः ब्राह्मणादिजात्यवस्था-
नानि, अथ वा स्थितयः मर्यादा व्यवहारा इति तासां परिरक्षणार्थं-
परितः सर्वतोभावेन रक्षणार्थम्, एतेन स्वगतपरगतानां व्यवहारविरुद्धानां-
माचाराणां रक्षणं सूचितं भवति, असिञ्चते—सङ्ग्रह्यते, त्वामभिपेचयामः ।
आर्यव्यवहारलोपिनं सङ्ग्रह्यप्रायश्चित्तेन शोधय, अत्राशे त्वामधिपतित्वेन
स्थापयामः । एतेन मानसिंहेन सह विरोधकरणं बीजरूपेण स्थापितं
भवति । त्वं शत्रून् विजित्य, अखिला—समस्ता, गोत्रानुगा—वंशपरंपरानु-
याता, स्वगोत्रा स्वपृथ्वी, प्रतिपालयस्व । सति कष्टेऽपि ता मा त्याज्यीरिति
भावः । एतेन भाविसकलयुद्धविषयः, कष्टसहनेऽपि स्वदेशरक्षा, पुनर्युद्धेन
स्वमूमिप्राप्तिरित्यादि बीजरूपेणोपक्षिप्यते ॥ १८ ॥

प्रथमः-राजंस्त्वत्सुभटासिकृत्तयवनासृङ्मांसमज्जाकुल-
 श्लेच्छानीकपलायनार्तनिनदव्याप्ताः समाः स्युर्दिश ।
 निःशङ्कप्रसरन्मनोहविभवभ्राजिष्णुलक्ष्मीलस-
 त्वत्कीर्तिप्रयतावदातमखिलं भूमण्डलं भासताम् ॥१६॥

आशिषमिति । अप्राप्तप्रार्थनमारीः, तद्रूपाणि पूर्वोक्तमावार्थ-
 सूचकानि पुष्पाणि ददाति । कुलाचारानुरूपमिति । भिल्लजातीयाः
 स्ववधिराक्तं शरमुपहरन्ति, एतेन स्ववधिरदानेन स्वामनुचरिष्याम इति
 बोधयन्ति । क्षत्रियाः खड्गमुपहरन्ति, खड्गसाहाय्येन स्वामनुचरिष्याम
 इति सूचयन्ति । विशः रूप्याणि, ततो धनेनानुचरिष्यामः, अन्ये च
 साष्टाङ्गप्रणामादिना स्वशरीरेण प्राणपणेन स्वामनुचरिष्याम इति
 सूचयन्ति ।

तत्र प्रथमो वैतालिकः पठति । राजन्निति । हे राजन् !
 तव सुभटानामुत्तमवीराणां ये असयः खड्गास्तैः कृत्ताः-छिन्ना
 ये यवनास्तेषामसृङ्मांसमज्जाभिराकुलं व्याप्तं यन् श्लेच्छानीकं
 गरुडसर्पाद्याकारेण स्थितम् अकबरसैन्यं तस्य पलायने-पराङ्मुखीभूय
 घावने, यः आर्तनिनदः-दीनशब्दः, तेन व्याप्ताः, समाः-सर्वा दिशः
 स्युः । यथा भयेन बिह्वलाः पलायमानाः लोकादिग्न्येण सर्वतो गच्छन्ति
 तथैव ययनैतिका भयत्रस्ता गच्छन्तु । तथा निःशङ्कम्-अप्रतिहतबाधं
 यथा स्यात्तथा, प्रसरन्-विस्तारमानुवन्, यो मनोहविभवः-शोभमानैश्वर्यम्
 तस्य भ्राजिष्णुलक्ष्म्या-देदीप्यमानशोभया, लसन्ती मध्ये-विद्युदिव द्योत-
 माना, या त्वत्कीर्तिस्तया प्रयतं-पवित्रम्, अवदातं-धवलम्, अखिलं-
 समस्तं, भूमण्डलम् भासताम् । शुभकर्मभिः शोभतामिति भावः । शुभ्रा
 त्वत्कीर्तिः समस्तभूमण्डले प्रसरत्विति तात्पर्यार्थः । अत्र पूर्वार्धेन भाव्य-
 मानयुद्धविजयो बीजरूपेणोपलक्ष्यते । अपराद्धेन विजयसमुद्भूतप्रताप-
 यशोऽवस्थानं बोध्यते । यद्यत्र पद्ये—

राजंस्त्वत्सुभटासिकृत्तयवनासृङ्मांसमज्जाकुला-

नार्यानीकपलायनार्तनिनदव्याप्ताः समाः स्युर्दिशः ।

पुनः—विद्वेपिभूमिपतिमानविलोपधीरो
 स्तेच्छाधिनाथवलनाशनसिद्धवीरः
 आर्यप्रभुः समरविजसभाधुरोणो
 मेवाढराड् जयतु युद्धकलाप्रवीणः ॥ २० ॥
 द्वितीय — स्वहिन्दुधर्मरक्षणे क्षणे क्षणे कृतेक्षण.
 क्षमाधिनायकोऽपि यः क्षमास्वरूपतां दधे ।

नि शङ्कप्रसरत्सुबल्लुविभवभ्राजिष्णुलक्ष्मीलस-

स्वकीर्तिप्रयतावदातमखिल भूमण्डल भासताम् ॥ इति पठेत्,
 तदा सन्ध्यक्षररहितमिदं पद्य भावगाम्भीर्यमजहदेव शब्दचित्रतामपि
 व्यञ्जयति । एवञ्च सन्ध्यक्षरमिति सञ्ज्ञा । किन्तु किञ्चिद्दार्ढ्यशैथिल्यान्व
 तयोक्तम् ॥ १६ ॥ अथवा

प्रत्यर्षिदमावलाग्निप्रसृमरनिविडध्वान्तविग्माशुराशि
 दुर्धर्पारिह्वितोशक्तितरदमनप्राप्तजम्भारिरूप ।
 सन्नीतिव्रातवल्लीविपिनघनघटवारिवाहानुकारी
 जीयादार्यस्थितीना यवनपतिनयाद् रत्नकोऽय प्रताप ।
 सन्ध्यक्षररहितमिदं पद्यम् ॥ २० ॥

विद्वेपिणो ये भूमिपतयो राजानस्तेषा मानविलोपे धीर प्राह तथा
 स्तेच्छाधिनाथस्य-अकबरस्य बलनाशने सामर्थ्यनाशने सैन्यनाशने वा
 सिद्धवीर , सिद्धाशौ वीर सिद्धवीर , अग्रतिहतवीर इत्यर्थः । आर्यप्रभुः
 आर्याणां प्रभु , अनेनैव आर्यसत्ताऽस्तीति भावः । समरविजाना या
 समा तत्र धुरीण , समानायक । एतेन हल्दीघाटिकयुद्धे आक्रमणपरामर्शो
 अस्य नायकत्व बीजरूपेण उपलब्ध्यते । युद्धकलाया प्रवीणो मेवाढराड्-
 मेवाढदेशाधिपति , जयतु-सर्वोत्कृष्टतया वर्तताम् ॥ २१ ॥

द्वितीय पुनराह-स्वहिन्दु इति । हिनस्ति पापानीति हिन्दु । हिंसि
 धातोरोष्णादिके दुप्रत्यये सकारलोपे च कृते हिन्दुरिति । धर्माधर्मव्यव-
 स्थाया सनातनधर्मिण्यामेव कार्याणां पापनाशकत्वं नेतरेषामित्याद्यस्मत्-
 तशङ्करविजयनाटके वर्णितम् । स्वस्य-आत्मन , स्वेषाम्-आत्मीयानां वा,

कलाकलापकोविदो रणाग्रणीर्दयानिधि.

प्रतापसिंहभूपति स एष सर्वदा जयेत् ॥ २१ ॥

स्वसौरयनिःस्पृहः सदा विपन्नदुःखनाशने

विरोधिमानमर्दको महाहवे समुद्यतः ।

स्विका स्थितिं दृढा युधा चकार यश्च भारते

प्रतापसिंहभूपतिः स एष सर्वदा जयेत् ॥ २२ ॥

अखण्डभूमिमण्डले प्रभूतकीर्तिराशिमान्

धराधरेन्द्रमन्दिरे तवैव गीयते स्तवः ।

हिन्दुधर्मस्य, रक्षणे-वर्णव्यवस्थादिपालने, जणे क्षणे-प्रतिक्षणमित्यर्थः, कृतेक्षण-कृतम् ईक्षणं येन स कृतेक्षण, दत्तदृष्टिः । क्षमाया अधि-नायक पृथिवीपतिरपि य क्षमास्वरूपता शान्तिस्वरूपता दधे । कलाकला-पस्य चतु पट्टिस्पर्शकाना मता-तरेण द्वासप्ततिसंख्याकाना वा कलाना य कलाप समूहस्तस्य कोविद-विद्वान् । नृत्याद्यनुपयुक्तकलाना कोविद एव, न तु तत्कर्तेति कोविदपदस्वारस्येन बो यते । रणे समामे, अग्रणी । तथापि दयानिधि-दयासमुद्र, स एष प्रतापसिंहभूपति सर्वदा जयेत्-सर्वोत्कृष्टतया यतंताम् । इहापि प्रार्थनमेवेति ॥ २१ ॥

पुनराह-स्वसौर्येति । विपन्नस्य दीनस्य यद् दुःखं तस्य विपन्न दुःखस्य नाशने-विपन्नसर्वविदुःखनिवारणे, सदा-सर्वदा, स्वसौर्ये निःस्पृह स्वमुखनिरपेक्ष । तथा विरोधिना-प्रतिकूलाचारिणा मानमर्दक, अथवा विरोधिना मानस्य-मानसिंहस्य मर्दक, महाहवे-युद्धे, समुद्यत समुद्युक्त य भारते भारतवर्षे स्विकाम् आत्मीया, स्थितिं मर्यादा वा, युधा समामेण, दृढा चकार, स एष प्रतापसिंहभूपति सर्वदा जयेत् । 'स्विका'मित्यत्र 'मल्लेया' इति न विकल्प, आत स्थानिकस्यैवाकारस्य तद्विषयत्वात् । ततश्च स्विका परमस्विकेत्यादौ नित्यमेव, सजोपसर्जनाभूत स्वशब्दोऽस्य विषय इति ॥ २२ ॥

पुनराह-अखण्डेति । अखण्डभूमिमण्डले-समस्तपृथ्वीमण्डले, प्रभूतकीर्तिराशिमान्-अतिशयितकीर्ति, धराधरः-शेष इन्द्र देवेन्द्र, तयोर्मन्दिरे इत्यत्र जातित्वादेकवचनम्, पाताले स्वर्गे चेत्यर्थः ।

सुरेन्द्रकेन्द्रमुत्सवाकुलं यदीयसन्नुतौ

प्रतापसिंहभूपतिः स एष सर्वदा जयेत् ॥ २३ ॥

(ततः किञ्चिद् गातुं नर्तितुं च आयियासति वाराङ्गना ।)

प्रतापः—केयम् ।

प्रधानमन्त्री—महाराज ! इयं नर्तितुमागता वाराङ्गना ।

प्रतापः—आः ! किमनया ?

लुण्ठन्ती विषये स्वके युवजनान् व्यामोह्य रूपं धनं
वंशस्योपरि नर्तनं विदधतीं हीनेति निस्सार्यताम् ।

यद्वा घराघरेन्द्रस्य मन्दिरे-हिमालयाधिपतिगृहे, अथवा-घराघरेन्द्रे यन्मन्दिरं
कैलाशस्तत्र तथैव स्तव-स्तुतिः, गीयते । यदीयसन्नुतौ-यस्य वास्त-
विकस्तुनिविषये, सुरेन्द्रकेन्द्रम्-इन्द्रस्य प्रधानस्थानम्, उत्सवाकुलम्-
विविधोत्सवव्याप्तम्, कश्चिच्च यस्य शौर्यं, कश्चिन्व्याय, कश्चिद् गम्भीरता,
कश्चित्पाण्डित्यं, कश्चित्सत्यतामालोक्योत्सवमातनोति । एवं यस्य सन्नुतौ
सुरेन्द्रकेन्द्रमुत्सवाकुलं स एषः प्रतापसिंहभूपतिः सर्वदा जयेत् ॥ २३ ॥

तत इति । सा पूर्वमागता वाराङ्गना किञ्चिद् गानाय नर्तनाय च
आयियासति-आयातुमिच्छति । प्रतापस्ता वारयितुमिच्छन्निव कथयति-
केयमिति । इयं वाराङ्गनेति सत्यपि ज्ञाने इह सता शूराणां सघटे अस्या
आगमनं न संभवतीति नानया वाराङ्गनया भवितव्यमित्यभिप्राय इह
त्रिया अपि प्रवेशो न युज्यत इति तामपि वारयन् कथयति-केयमिति ।

अथ मन्त्री तदभिप्रायमवगच्छन् कथयति-राज्याभिषेके महति महो-
त्सवे प्रधानुरोधेन नर्तितुमागता इयंवाराङ्गना । पुनः प्रतापः कथयति-आः
किमनयेति । आः इति अत्यन्तदुःखप्रकाशने खेदे च । म्लेच्छैराक्रान्ते
पराधीने च सति भारते कथं महोत्सवस्यावसरः, उत्सवस्याप्यवसरो
नास्तीति तस्या आगमनं सर्वथा निष्प्रयोजनमित्याह-अनया किम् ।
अनया किञ्चिदपि प्रयोजनं नास्ति । अथ तस्याः कृत्येषु दोषं प्रदर्शयन्
तत्स्थितिमप्यसहमानः कथयति ।

लुण्ठन्तीति । इदमः प्रक्रान्तत्वात् इयं स्वके विषये स्वकीये देशे,

स्थानेऽस्याश्च परस्य देशविभवावाहृत्य तत्स्वामिन,
स्वीय भृत्यमसौ विधाय भवतः खड्गो रणे नृत्यतु ॥२४॥

‘नीवृज्जनपदो देशविषयो त्ववर्तनम्’ इत्यमर । अथ च स्वके स्वकीये, विषये आलिङ्गनादिके, युवजनान् संग्रामसमर्थान्, अथ च विषयज्ञमान् व्यामोह्य सदसद्विवेकासमर्थान् विधाय रूप धन-प्रत्यासत्त्या तेषां युवजनां नामेव रूप धन च लुण्ठन्ती, सासर्गिकरोगादिना रूप, हावभावादिभिर्धनं च अपहरन्ती । वशस्य-महादण्डाकारेण स्थितस्य वशस्य उपरि, नर्तनं विदधती, अथ च वशस्य-स्वकुलस्य उपरि नर्तनं विदधती स्वकुलमप्यवगमयन्ती । हीना नीचजातीया इति हेतुर्निस्सार्यताम्, इतः स्थानादिति शेषः । अत्र प्रथमपदेन स्वकीययोर्दृष्टप्रतिबन्धकत्वं द्वितीयपदेन अकार्यकारित्वमिति कृत्वा निःसारणमस्या विधीयताम् । तर्हि को नृत्यतु इत्याह-अस्यां स्थाने, परस्य अन्यस्य, शत्रोर्वा देशविभवौ आहृत्य तत्स्वामिन स्वीय स्वकीय भृत्य विधाय असौ प्रत्यक्षविषयीभूतो, भवतः खड्गो रणे नृत्यतु । सा च स्वदेशे एव, तत्रापि व्यामोह्य, अथापि रूप धनं च लुण्ठन्ती, तेषामज्ञानदशायां चोरयन्ती, भवतः खड्गस्तु शत्रोर्न तु स्वकीयस्य, देश समस्तविभव च, राज्यमेवेत्यर्थः । आहृत्य दण्डापहृत्य न तु व्यामोह्य, नापि आहरन् । अत्र त्वाप्रत्ययेन आहरणानन्तरमपि योर्दृष्टप्रतीक्षार्थं तत्रावस्थानं बोध्यते । तद्देशस्वामिन-स्वकीयभृत्य-विधानात् तद्देशस्वामिन अनुगामित्वं, खड्गस्य च स्वभृत्यतया तत्त्वोपकृत्य भवगम्यते । तेन व्यायकारित्वं खड्गस्य व्यज्यते । इयं वशस्योपरि नृत्यतीति महानीचत्वं बोध्यते, भवतः खड्गो रणे शत्रूणामुपरि नृत्यतु । खड्गस्य पुस्तवात्पुरुषकृतनर्तनमतिचपलं सर्वतोभावेन प्रवर्तमानं चेति शङ्का नाशोऽधिकतया बोध्यते । अत्र च वाराङ्गनायां कार्याणामधमत्वादस्य चोत्तमत्वाच्चत्स्थाने खड्गस्य नर्तनमुचितम् । तेन च भाविष्यग्राम एवमन् ॥ २४ ॥

अथ पुनः प्रताप शौर्याभिनिवेशेन स्वखड्गं दर्शयन् कथयति-
लुण्ठन्तीमिति । स्वप्रदेशे-स्वकीये प्रकृष्टे देशे पत्तने इत्यर्थः, अथ च

पश्य—

लुञ्चन्तीं स्वप्रदेशे परविभवगतान् वंशमध्ये व्रजन्तीं
 शून्ये हस्तौ क्षिपन्तीं क्षितिशिरसि रयादुत्पतन्तीं पतन्तीम् ।
 निस्तार्यैनां ममैषा परविषयगतां संपदामानयन्ती
 मूर्ध्नोऽरीणां हरन्ती चरतु रिपुकुलस्योत्तमाङ्गेऽसिधारा २५॥

(इति स्वकीयं खड्गं निष्काशय दर्शयति)

(ततः सा वेश्या तत्स्थानात् किञ्चिदपसरति ।)

स्वकीये प्रकृष्टे देशे स्थानविशेषे इत्यर्थः, परविभवगतान्, अनायास-
 लब्धसंपत्तीन् लुञ्चन्तीम् । अनायासलब्धसंपत्तयो वेश्यागामिनो भवन्तीति
 तेभ्यः सर्वतो भावेन धनं निष्काशयन्तीम् । वंशमध्ये-वेणुदण्डे, व्रजन्तीम्
 गच्छन्तीम् । अथ च-वंशमध्ये-स्वकुले, व्रजन्तीम्-अटन्तीं कुलटामित्यर्थः
 शून्ये-द्रव्यादिरहिते, असमर्थे वा पुरुषे हस्तौ क्षिपन्तीम्, द्रव्यादिरहित-
 मसमर्थे वा गलहस्तेन निष्काशयन्तीम्, तथा क्षितिशिरसि-पृथिव्या उपरि,
 रयात्-वेगेन, उत्पतन्तीम्-नृत्यविशेषे तथा विधानात्, तथा पतन्तीम्-
 भावबोधनार्थं निपतन्तीम् । अथवा-क्षितेः मृत्योः, शिरसि रयात् उत्पतन्तीं
 पतन्तीं च निर्मीकामित्यर्थः । अथवा-क्षितौ नाशे, शिरो, यस्य तस्मिन्
 क्षयोन्मुखे उत्पतन्तीम्-उपरि आगच्छन्तीं पतन्तीं च, सर्वद्रव्याकर्षणार्थ-
 मित्यर्थः । एवं दोषविशिष्टा मेना निस्तार्य परविषयगतां-शत्रुदेशस्थितां,
 संपदा-सम्पत्तिम्, आनयन्ती—हठादपहरन्ती, अरीणां—शत्रूणां मूर्ध्नां
 शिरसि हरन्ती एषा मम असेः खड्गस्य, धारा, रिपुकुलस्य
 उत्तमाङ्गे मस्तके चरतु । ‘मम असिधारा’ इत्यत्र ममेत्यस्य असिना
 सहासंबन्धः, ततश्च देवदत्तस्य गुरुकुलमिति वनित्यसाकाङ्क्षत्वादसमासेऽपि
 तेनैव सहान्वयो बोद्धव्यः । भिन्नार्थत्वात्परशब्दे न कथितपदत्वदोषः,
 अत्रापि तस्या निःसारणपूर्वकं प्रकारान्तरेण तत्कार्याणां कथनात् भावि-
 युद्धोद्योगः सूच्यते । परविषयगतां संपदामानयन्तीत्यनेन च पञ्चमाङ्क-
 गतं छुण्ठनादि कार्यं बीजरूपेण उपक्षिप्यते ॥ २५ ॥

प्रतापः—(भूमिं स्पृष्ट्वा प्रणमति प्रतिजानीते च ।)

यावन्मे धमनीमुखेषु रुधिरक्लेदोऽपि सन्तिष्ठते

मांसं वाऽस्थनि तिष्ठति कचिदपि प्राणाः शरीरे स्थिताः ।

तावन्त्लेच्छपतेः कथंचिदपि न प्राप्स्याम्यहं निघ्नताम् ।

स्वातन्त्र्यस्य पदं समस्तवसुधां नेतुं यतिष्ये भृशम् ॥२६॥

(अथ सर्वे स्वशस्त्राण्युद्यम्य प्रतिजानीते)

सर्वे—एवं सति वयं सर्वे त्वदायत्तजीवनाः ।

अथ प्रतापो हस्तेन भूमिं स्पृष्ट्वा तत्रस्था भूम्यधिष्ठायकदेवता प्रणमति । हस्तेन पादं स्पृष्ट्वैव उत्तमप्रणामव्यवहारो भवतीति तमेषासौ विदधाति । प्रतिजानीते चेति । वक्ष्यमाणः प्रतिज्ञा च करोति । यावन्मे इत्यादि । यावदपर्यन्तं मे धमनीमुखेषु-नाडीप्रान्तेषु, रुधिरक्लेदोऽपि-रुधिरश्यार्द्रताऽपि, सन्तिष्ठते-विद्यते इत्यर्थः । अथ रुधिरार्द्रतानाशेऽपि स्वस्थता संभवतीत्याह-मांसमिति । वा-अथवा यावत् अस्थनि कचिदपि मांसं तिष्ठति विद्यमानमित्यर्थः । रक्तमांसविनाशेऽपि जीवति सत्याह । किं बहुना-यावत् प्राणाः शरीरे स्थिताः विद्यमानाः सन्ति, तावत् अहम्-अहमिति-स्वाभिमानसूचकम्, क्षत्रियकुलोत्पन्नः आर्यजातीयोऽहं प्रतापः । कथमपि-केनापि सामादिप्रकारेण, म्लेच्छपतेरकबरस्य, निघ्नताम्-अधीनता, न प्राप्स्यामि, किं तु समस्तवसुधा सम्पूर्णां पृथिवीं, स्वातन्त्र्यस्य पदं स्थानं, नेतुं-प्रापयितुं, भृशमत्यन्तं, यतिष्ये-यत्नं करिष्यामि । 'धमनी' ति 'नाडी तु धमनिः शिरा' इत्यमरः । अथ 'सर्वतोऽक्तिचर्यादित्येके, इति ङीप् । 'संतिष्ठते' इत्यत्र 'समवप्रविश्यः स्थः, इत्यात्मनेपदम्, 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति लट् । वसुधापदेन वसुधारकत्वाच्चस्याः स्वातन्त्र्य-प्रापणम् आवश्यकमिति सूच्यते ॥ २६ ॥

अथ प्रतापस्य प्रतिज्ञामाकर्ण्य उत्साहोद्रेकाद् वीरसम्पूर्णास्तत्रस्थाः सर्वेऽपि स्वशस्त्राणि उचीय प्रतिज्ञा कुर्वन्ति । तामेषाह-एवं सतीति । 'यदि म्लेच्छपतेरधीनता न प्राप्स्यामि, समस्ता पृथ्वी च स्वातन्त्र्यपदं प्रापयितुं यतिष्ये' इति भवता निश्चयस्तेर्हि वयं सर्वेऽपि 'त्वदायत्तजीवना'

किञ्च—

धर्मबिन्दुरपि यत्र शरीरात्तावकाज्निपतितः समरे स्थात् ।

तत्र शोणितभवाः शतशः स्युः प्रत्यनीकपृतनासु तटिन्य ॥२७॥

(ततः समयमिव सा घाराङ्कना पुनरुपेत्य ।)

वेश्या—महाराज ! क्षमस्व माम् । अद्य प्रभृति अहं कापाय-
वसना योगिनीवेपेण भिक्षामाचरन्ती शौर्यसंचारि-
गानयलेन सहस्रशो वीरान् देशसेवार्थं सज्जीकरिष्यामि,

इति । तत्र आयत्तम्—अधीन जीवन येषां ते तथा, त्वदधीनजीवना ।
यत्र यथा अस्माकं जीवनैः प्रयोजनं स्यात् तत्र तथैव नियोजय, नैवास्माकं
ननु नचेत्यादि किमप्यत्र वक्तव्यमस्ति ।

किं चेत्यादि । नैव अजाबिकादय इव शौर्यरहिता अकिञ्चित्कराश्च
यद्यपि किं तर्हि इत्याह—धर्मबिन्दुरिति । यत्र—यस्मिन्, समरे—संग्रामे,
तावकात् त्वदीयात् शरीरात् धर्मबिन्दुरपि निपतितः स्यात्—यदि निपतेत्,
तर्हि तत्र समरे—तत्रैव संग्रामे इत्यर्थः । प्रत्यनीकपृतनासु शत्रुसेनासु,
शोणितभवा—प्रत्यासत्त्या शत्रुसैनिकानां रक्तोत्सन्ना शतशस्तटिन्यो नद्य-
स्युः, भविष्यन्तीत्यर्थः । अत्र भवत साधारणदुःखदशायां स्वेदबिन्दुनिपा-
तेऽपि यदि वयमेव करिष्यामस्तर्हि भवत शरीरतो रुधिरनिपाते शत्रूणां
किं करिष्याम इति तु वर्णनातीतमेवेति तेषामाशयः ॥ २७ ॥

समयमिवेति । अपराधिना हृदये स्वाभाविकमेव भयं भवतीति
समयमिव सा प्रतापसमीपे गत्वा कथयति । किं कथयतीत्याह—महाराजे-
त्यादि । कापायेति । कपायेण रक्तानि वस्त्राणि कापायाणि । कापायाणि
वसनानि वस्त्राणि यस्यां सा, त्यक्तगृहकार्या विरक्तेत्यर्थः । अद्य आजीव-
नोपायमाह—योगिनीवेपेण भिक्षामाचरन्ती 'भिक्षया आजीवनं प्रायश्चित्तं
मेवेति' प्रायश्चित्तं कुर्वती । अथ तत्फलमाह—शौर्येत्यादि । शौर्ये
संचारिण—शौर्यप्रादुर्भावकस्य, गानस्य बलेन । हठादिषु शौरोत्पादकेन
गानेनेत्यर्थः । सहस्रशो वीरान्, देशसेवार्थं—देशस्वातन्त्र्यार्थं, सज्जी-
करिष्यामि प्राणानपि त्यक्तुमुद्यतान् करिष्यामि । अन्यदप्याह—कातरा-
णामपीति । शुद्धवार्ताश्रवणमात्रतोऽतिकम्पितहृदयानामपि हृदये,

कातराणामपि हृदये दृढमतिप्रवलं शौर्यं संचारयिष्यामि,
नातः परं भवद्राज्ये कोऽपि कातर उपलप्स्यते ।

(इति पादयोः पतति ।)

प्रता०—उत्तिष्ठ, देशसेवार्थमेवमेव विधेहि ।

नेपथ्ये

साधु साधु सर्वे भवन्तो दृढसंकल्पाः सन्तु ।

(ततो निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति श्री म० म० मधुगप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके राज्यपीठाधि-
रोहणं नाम प्रथमोऽङ्कः ।

किमुत अकातराणां हृदये । दृढमतीत्यादि । दृढा मतिर्पस्मिन् तत् ,
परादमुखविचाररहितम् । अथवा-दृढम्-निश्चितम्, अतिप्रबलम्-अत्यन्त-
युद्धाभिनिवेशयुक्तं, शौर्यं संचारयिष्यामि-प्रतिजज्ञमुच्यलद्रक्तेषु अहं
शौर्यमभिनिवेशयिष्यामि । किं बहुना, तथाभिमतदत्यधिकतरमहं संपाद-
यिष्यामि । किं तदित्याह-नातःपरमित्यादि । अतः परम्-मम गमना-
नन्तरमेव प्रारम्भमाश्रमत्कार्योत्तरकालादनन्तरं भवद्राज्ये समस्तराज्येऽपी-
त्यर्थः, कोऽपि-एकोपि, कातरः नोपलप्स्यते सर्वथा कातराणामभावात्त-
त्प्राप्तिमसंभायिनीमेव विधास्यामि । मा ह्यमस्व, इति एधं, कथयन्ती
सती पादयोः प्रतापस्येति शेषः पतति ।

अथ प्रतापस्तामादिशति-उत्तिष्ठेति । स्वकार्ये सन्नद्धा भव । देश-
सेवार्थम्-एतेन पुण्यातिशयो बोध्यते, तथा हि एतत्कार्यसंपादनेन देश-
स्वातन्त्र्यलाभासमस्तब्राह्मणक्षत्रियवैश्येक्षेत्रेषां स्वत एव सेवा संपादिता
भवति । एवमेव-यथा त्वया उक्तं तथैव, विधेहि ।

नेपथ्ये इति । कुत्राप्यनिर्दिष्टस्थाने स्थितः कश्चिद् देवो ऋषिर्वा
कथयति । साधु साधु-अतिशोभनमिदं भवतां कार्यम् । दृढसंकल्पाः-
अपरित्यक्तप्रतिज्ञा भवन्तः सन्तु । इत्याशिर्षं ददाति । अत्र आशिष्यर्थं
लोट् । इत्याशिपोऽनन्तरं सर्वे निष्क्रान्ताः ।

इति श्री म० म० मधुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके वैजयन्तीटीकायां
राज्यपीठाधिरोहणं नाम प्रथमोऽङ्कः ।

द्वितीयोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(पितुः क्रियाकर्मनिवृत्तः सुखासीनः प्रतापः ।)

प्रतापः—(क इदानीं द्वारपाल इति ज्ञातुं घण्टिकां वादयति)

दीवारिकः—(प्रविश्य) जेदु जेदु महाराजो ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—शक्तिसिंहमाह्वय ।

दी०—जं देवो आणवेदि ।

यत् देव आजापयति ।

(इति निष्क्रान्तः ।)

दी०—(शक्तिसिंहमुपसृत्य) महाभाय ! तत् महाराजो

महाभाग्य ! तत्र महाराजो

भवन्तं ददुः अहिलसइ ।

भवन्तं द्रष्टुमभिलषति ।

अथ द्वितीयाङ्कमवतारयति । तत्र 'किमौर्ध्वदैहिक' मित्यादिना प्रथमाङ्के उच्यते पितुरौर्ध्वदैहिककृत्यकरणं 'पितुः क्रियाकर्मनिवृत्तः', इत्यादिना सूचयन्, 'आर्यस्थितीनाम्' इत्यादिना पुरोहितस्याशौर्वचनेनोपलक्षितमार्यमर्यादारक्षणं स्वकीयपृथ्वीपालनं च, 'खड्गो रणे नृत्यतु' इत्यादिना सूचितं भावियुद्धं घातसंग्रहादिद्वारेण तद्विजयोपायं च दर्शयति । पितुरिति । पितृसम्बन्धौर्ध्वदैहिकसकलकर्मकरणानन्तरं, विरुद्धपक्षस्याभावात्, प्रजायाः स्वस्मिन्ननुरागान्च सुखासीनः आर्यमर्यादारक्षणोपायं चिन्तयन् पूर्वं शक्तिसिंहमात्मानुयायिनं कर्तुमुपक्रमते । तत्र शक्तिसिंहमानेतुमनुचरमाह्वयति—क इदानीमित्यादिना । दीवारिकः, प्रभुर्माह्वयति इति प्रतापमावमवगत्य प्रविश्य, 'जयतु जयतु' इत्यादिना

शक्ति०—दौवारिक ! महाराजं निवेद्य, अनुपदमेवागच्छामि ।

दौ०—जहा तुम्हारा आणा ।

यया मुष्माकन् आशा ।

(आगत्य प्रनामं निवेद्य निष्क्रान्तो दौवारिकः । यथास्थान-
स्थितश्च ।)

दौ०—(पुनः प्रविश्य) जेदु जेदु महाराजो, सत्तिसाहसदिओ
जयतु जयतु महाराजः, शनि सिंहगहितः

सालुम्यो समुचट्टिओ ।

सालुम्यः समुपगितः ।

प्रतापः—प्रवेशाय । (दौवारिकस्तौ निवेद्य प्रवेशयति ।)

(यथास्थानं तिष्ठन्ति सर्वे)

(प्रतापः—उत्थाय मालुम्यं प्रणम्य शक्तिसिंहं हृदयेनालिङ्गति
पुनः परायृत्य यथास्थानं तिष्ठति ।)

प्रतापः—अस्थाने तस्मिन् दिवसि पित्रा क्रोधो
विहितः ।

शक्ति०—ममादृष्टमेव कारणम्, न किमपि तेषु यक्तव्यम् ।

यतः—

स्वागमनं सूचयति । देव इति । अथ देवो राजा । महाभाग्येति
महत् माग्यं यस्येति तत्सबुद्धौ । यतो महाराजस्त्वामाह्वयति, अतस्त्वमिदानीं
महाभाग्य एव संजातः । द्रष्टुमभिलषति-एतेन तस्मिन् आदरातिशयो
व्यज्यते ।

शक्तिसिंहः स्वस्य अदृष्टमेव कारणं मन्यमानः कथयति—ममादृष्टमेवे-
त्यादि । अदृष्टमिति पूर्वोपार्जितधर्माधर्मादिजन्यं कर्म । तच्च फल-
बलाजापमानं सामान्यापराधिन विशेषापराधित्वे परिणमयति । न किम-
पीति । तेविविचि पृच्छत्वाद् बहुवचनम् । तस्मिन् पितरि, किमपि नैव
वक्तव्यम् । दोषवत्त्वेऽपि पूज्यत्वात्ते दोषविषयतया नैवोच्यन्ते । तदेव
दर्शयति । यत—यस्मात्कारणात् ।

पूज्यानां चरितानि वाच्यपदवीं नायान्ति लोके कचित्
 कन्याया यतिवेशतोऽपि हरणे पार्थो बुधैः स्तूयते ।
 ज्ञात्वेत्याचरियं दुरोदरमिदं भीमाप्रजेन स्वयं
 धर्मात्मा स निगद्यते, पितरि तज्ज्ञात्वैव संतुष्यते ॥ १ ॥
 सालुम्न - नैवम्-अस्त्यत्र कश्चिद् गृढामिसन्धिः ,

पूज्यानामिति । लोके-जातित्वादेकवचनम्, लोकेषु सूक्ष्मविचार-
 शून्येषु जनेषु । यद्वा-लोक-संसारे कचिदपि पूज्यानां पूजनीयानां महा-
 त्मनामित्यर्थः, चरितानि-कृत्यानि, वाच्यपदवीं-वाच्यस्य निन्दाविषयतया
 कथनोपस्य, पदवीं-स्थानं, न आपान्ति न प्राप्नुवन्ति । तदेव दृष्टान्तद्वारेण
 समर्थयति-कन्याया इति । कन्याया -अनूढाया, एतेन तस्या हरणे
 महापातकित्वं सूचितं भवति । यतिवेषतः, यते सन्यासिनो वेषतः बाह्या
 डग्नरेण, एतेन विश्वासयोग्यता तस्य दर्शिता भवति । हरणे दृष्टात्
 गृहीत्वा पलायने । एतेन महानग्नकारित्वं तस्य सूचितं भवति । तथाहि-
 पूर्वं कन्याया हरणमेवानर्थजनकम्, तन्नारि अन्यवेषतः, अथापि यतिवेषतः ।
 पुनरपि हरण-दृष्टात् गृहीत्वा पलायनम्, एव सत्यपि, पार्थ-पृथाया
 अतस्य पाथोऽर्जुन, बुधै-विद्वद्भिः, स्तूयते-प्रशस्यते, साधारणपुरुषैः
 प्रशसनं तु कचिद्वेदपि परं तु स तु बुधैः स्तूयते, अत एवोच्यते
 पूज्यानां चरितानि वाच्यपदवीं नायान्ताति । अन्यदप्याह-भीमाप्रजेन-
 युधिष्ठिरेण, इदं दुष्टमुदर-यस्येति दुरादरं दुष्परिणाममिति ज्ञात्वा स्वयम्
 आचरितम्, न तु परपराया कनापि द्वारा मेवितम् । स युधिष्ठिरः,
 धर्मात्मा धर्ममूर्तिर्धर्मद्वयहृत् निगद्यते । पितरि-पितृरिपये, तज्ज्ञात्वेन
 संतुष्यते । अयं भाग-यथा युधिष्ठिरो अतसेवनेनापि धर्मात्मा निगद्यते
 तथा रिता उदयस्थिहाऽपि पुत्रप्राणदण्डकारक उचितकार्येति भावः ।
 अयं अनुचितकार्यकारित्वात्तेषां निन्दा व्यज्यते ॥ १ ॥

अयं तदभिज्ञेऽप्रवण्डन्सात्तुष्यः कथयति-नैवमिति । यथा अकुलि-
 न्देदारराधात्प्राणदण्डाऽनेन विहित इति मरद्भिरगम्यते न तथाऽस्ति ।
 किन्तु अत्र प्राणदण्डविषये कश्चित्प्रधानमूला गूढ-अत्यन्ततिरोहित-
 अभिसन्धिर्मरिरोन्मत्ताविषयक रहस्यमस्ति । किं तदिति दशयति-

अन्यदपि कारणम्—विचारितं तेनासीत्—यज्जगन्म-
ल्लाय राज्यप्रदानसमये अतिशयितविक्रमशौर्यसाहसा-
दिगुणमापन्नोऽयमेवौद्धत्यान् परिपन्थी भविष्यतीति
तेन तथाऽऽचरितम् ।

प्रता०—युज्यते चैवम् । शक्तिसिंह ! दिष्ट्या सालुम्बेन रक्षि-
तोऽसि । अयं ते प्राणुरक्षकः पिता । यतः—

चाण्डालहस्तेषु समर्पितं त्वां

को नाम निष्काशयितुं समर्थ ।

धैर्यैक्षमाशालिमनाः प्रवीर

सालुम्बतातो यदि नान्तरा स्यात् ॥ २ ॥

सालुम्ब कारणान्तरं दर्शयति—विचारितमित्यादि । सुगमम् । अथ
प्रताप पूर्वोक्तकारणं दृढं मन्यमानं कथयति—युज्यते चैवमिति । एव
विधकारणेन तु प्राणुरदण्डाज्ञाकरणं युक्तियुक्तं भवति । अथ प्रतापः
शक्तिसिंहं कथयति । शक्तिसिंह ! त्वं दिष्ट्या शुभकमोदयात् रक्षितो
ऽसि । प्राणुरक्षक इति । अयं तव भयत्राता पिताऽस्ति । तदेव
दर्शयति—

चाण्डालेति । चाण्डालानां हस्तेषु एरुस्य चाण्डालस्य हस्तात्
अनुनयोक्तोचदानसाहसादिना निष्काशयितुं शक्यते परंतु बहूनां
चाण्डालानां हस्तेभ्यः कथमपि नैव निष्काशयितुं शक्यते । समर्पित-
सम्यक् प्रकारेण अर्पितं, स्वकीयविश्वस्तपुरुषद्वारेण दत्तं त्वां को नाम
निष्काशयितुं चाण्डालहस्तेभ्यो रक्षितुमित्यर्थः । समर्थोऽस्ति । अद्यापि
तथामृतसामर्थ्यवान्नास्तीत्यर्थः । यदि धैर्यं—व्यवसाये स्थिरता, उक्तं हि
'व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्त्वम्' । क्षमा सहिष्णुता ताभ्यां शालि-
शोभनानां मनो यस्य स । एतेन उचितानुचितकथनेऽपि तत्सहनपूर्व-
कमस्य अभिमतकार्यकारित्वं बोध्यते । तथा प्रवीर—प्रबुद्धो वीर प्रवीर,
एतेन शौर्यपूर्वकमपि अस्य कार्यसमादने शक्तिबोधयते । सालुम्बतात—
पूज्यत्वाद् वृद्धत्वान्च तावत्स्थानीयं सालुम्बं, पितुं समकालिकोऽयं

शक्ति०—एवमेवेतत् ।

प्रता०—सालुम्ब ! किमाज्ञापयस्येनम् ।

सालु०—(मनसि) ममौरसः पुत्रः संजात एव । अयमत्र स्थितः
परमैश्वर्यभोक्ता भवतु ।

(प्रकाशम्) अयं भवतां स्थापनिका । यथा भवद्भ्यो
रोचते ।

प्रता०—अयमस्मत्सविधे स्थितोऽस्मदीयसम्यग्वाहुरिव सर्घकायंपु
सहायको भवतु ।

सालु०—एवं सति
दृष्यद्विपक्षचित्तिपालसेना—

समुद्रकुम्भोद्भवशक्तिरेपः

सामन्तः । अन्तरा मध्ये न स्यात्—न भवेत् । ‘यदायक्षोरुपसंख्यानम्’
इति लिङ् । सालुम्बतातस्य मध्ये आगमनादेव त्वं चाण्डालहस्तात्
रक्षित इति भावः ॥ २ ॥

शक्तिर्लिङ्गः कथयति—एवमेवेति । यथा भवद्भिरुक्तम्, एतदेवमेव ।
सालुम्बतातेनाहं रक्षितोऽस्मीति मे प्राणरक्षकत्वात्पितृवैत्यर्थः । किमा-
ज्ञापयसीति । किमयं भवता रक्षितो भवत्पुत्रस्यानीयो भवत्सविधे
तिष्ठतु, किं वा तमौरसः पुत्रो जात इति कृत्वा मम सविधे तिष्ठतु । स्थाप-
निकेति । यथा स्थापनिकायां रक्षकस्य तद्ग्रहणे नाधिकारो भवति, एव-
मस्य विषयेऽपि मम नाधिकारः, अयं तवैवेति भावः । यथा भवद्भ्य
इति । यदि एतद्रक्षणे पुनरपि मामाज्ञायन्ति भवन्तस्तदाऽहं तपा
विधास्यामि, अथात्मीयस्थापनिकावदिमं ग्रहीतुमिच्छन्ति तदा गृह्णन्तु
इत्युभयप्रकारयोर्मध्ये यथा रोचते । भवद्भ्य इत्यत्र ‘रुन्धर्यानां प्रोयमाणः’
इति चतुर्थी ।

दृष्यदिनि । दृष्यन्तः—दर्पयुक्ताः, निरुद्धाः—शत्रुभूताः, ये चित्ति-
पालाः—राजानः, तेषां या सेना सैव समुद्रस्तत्र, कुम्भोद्भव इव—अगस्त्य इव
शक्तिर्यस्य तन्नाशने अगस्त्यसमानः एष शक्तिर्लिङ्गः चेद्—यदि तव सहायः—

तिष्ठेत्सहायस्तव चेत्तदा स्यात्

कियान् वराको यवनाधिनाथः ॥ ३ ॥

प्रता०—अस्त्वेवम् । मदभिन्नशरीर एवासौ तिष्ठतु ।

दश ग्रामास्तुभ्यं दीयन्ते तत्र ते संत्तानसत्ता सदा तिष्ठतु ।

इति स्वमुद्राङ्कितं लेखं विधाय तस्मै ददाति ।

सालु०—अनेन तद्यौदार्येण यावद्वंशपरंपरं क्रीतोऽस्मि ।

शक्तिः—महाराज ! श्रूयते राज्यलोभात्सगरसिंहो म्लेच्छराज-
मुपगतः ।

प्रता०—आः ! कोऽयं वराकः । गच्छतु, किमनेनापह्रियते । पश्य—
म्लेच्छाधिनाथस्य समस्तसैन्यमेकाक्यहं नाशयितुं समर्थः,
घन्धोर्गणस्यानुगतौ भवेयुर्द्वित्राः कलास्तस्य समूलनाशे ॥४॥

तवानुचरः सन् तिष्ठेत्, तदा अयं प्रत्यक्षविषयीभूतो वराकोऽकिञ्चित्करो
यवनाधिनाथः अकचरः कियान्—कियत्परिमाणः स्यात् । यथा अगस्त्यः
क्षणेन समुद्रमशोपयत्तथैवायमपि विपक्षिणेन क्षणेन नाशयिष्यतीत्य-
किञ्चित्कर एवाकचरो भविष्यतीति भावः ॥ ३ ॥

अनेनेति ग्रामदान 'राजपद' प्रदानरूपेण यौदार्येण । यावद्वंशेति ।
'यावद्वधधारणे' इति समासः । यावत्पर्यन्तं मे वंशपरम्परा तावत्पर्यन्तं
क्रीतोऽस्मि, मम भाविनी सन्ततिरपि तवानुगाभित्य न त्यज्यतीति भावः ।
राज्यलोभादिति । राज्यस्य लोभात्—अनुचितामिलापात् । म्लेच्छराज-
मिति । म्लेच्छानां प्रत्यन्तदेशवासिना राजा, न त्वस्माकमपीत्यर्थः ।
तमुपगतः तत्सविषे प्राप्तः । मा म्लेच्छराजः साहाय्यदानेन मेवाडदेशा-
धिपतिं विधास्यतीत्यमिलापया तदासता प्राप्त इति भावः ।

प्रतापः सक्रोध कथयति—आः ! कोऽयमिति । आ इति काथ-
रूनकमव्ययम् । अयं सगरसिंहो वराकोऽकिञ्चित्कर एव, न कुत्रापि
गणनीयः सामर्थ्यशून्यत्वात् । अनेन गतवता सगरसिन्हेन किम् अपह्रियते,
न किञ्चिदप्पनिष्ट विधातुं शक्यत इति भावः । पश्य—अन्तःकरणेन
विचारय । म्लेच्छाधिनाथस्येति मृगमम् ।

सालु० राजन्—एवमेवैतत् ।

शक्ति०—बहुकालातिपातः संजातः । पश्य—

तापं संजनयन्स्मृतिं कवलयन्स्तर्पं समुल्लासयन्

दृष्टिं संभ्रमयन्मनो विकलयन् स्वेदाम्बु संचारयन् ।

भूमिं संज्वलयन्नपोऽपचययन् पान्थान्समुत्सारयन्

वह्निं संघटयन् मृगानसितयन् सूर्यः समुज्जृम्भते ॥ ५ ॥

प्रता०—आम्, कथानुकथनेनाज्ञात एव बहुकालः संजातः ।

(ततः सूर्ये उत्तिष्ठन्ति । सालुग्भशक्तिसिंहौ निष्क्रामतः ।)

शक्तिसिंहो मध्याह्नसमयमवलोक्य कथयति—कालस्य—
माध्याह्निकस्नानकालस्य, अतिपातः-समयातिक्रमः, संजातः-अभूत् ।

तमेव मध्याह्नसमयं वर्णयति— तापमिति । तापं-संतापं, संजनयन्-
मम्यक् प्रकारेणोत्पादयन्, स्मृतिं-स्मरणशक्तिं, कवलयन्-कवलीकुर्वन्
अतिसंतापयशात्स्मरणशक्तेर्ह्रासो भवति । तथा तर्पं-पिपासा, समुल्ला-
सयन्-वर्धयन्, 'उदन्या तु पिपासा तृट् तर्पो जग्धिस्तु भोजनम्' इत्यमरः
दृष्टिं दर्शनं शानं वा संभ्रमयन्-अतद्वति तत्प्रकारतयोत्पादयन्, मरीचिका-
जननात्, अत्यन्तसतापतयोद्वेगजननेनान्यथा बोद्धोदयाद्वा । तथा मनो-
मानसं, विकलयन्-व्याकुलं कुर्वन्, स्वेदाम्बु-स्वेदजलं, संचारयन्-प्रवाह-
यन् । भूमिं-पृथ्वी, संज्वलयन्-अत्यन्तसंतप्ता कुर्वन्, अपो-जलानि,
अपचययन्-अपहारं कुर्वन्, 'अपहारस्त्वपचय' इत्यमरः । पान्थान्-
पथिकान्, समुत्सारयन्-प्रतिरोधयन्, अत्यन्तघमोदयात्पथिकानां गति-
प्रतिरोधं कुर्वन् । वह्निं संघटयन्—अतिसंतापवशात् धूलिकणेषु बह्नेः
प्रतीतिमिव जनयन्, मृगान् असितयन्-श्यामं कुर्वन् सूर्यः समुज्जृम्भते-
उदयमानः सूर्यः प्रचण्डः सन्नूर्ध्वमायातीति भावः । अत्र प्रतिचरणं
पूर्ववाक्येषु घटादीनां, मध्यवाक्येषु नामघातूनां प्रयोगात् अन्तिमेऽप्यन्ता-
नाम् इति न मग्नप्रक्रमता । सूर्यस्यापि तथैवौप्यप्राप्त्यर्थमुपपद्यत इति
स्वभावोक्त्यलंकारः ॥ ५ ॥

प्रतापः—(किञ्चित्परिक्रम्य निःश्वस्य च अकबर लक्ष्मीकृत्य । मनसि ।)

रे स्लेच्छाधिप ! दुर्विनीत ! फलितः कौटिल्यजालाकुलो-

दिष्ट्या रूढपदस्त्वया विरचितो भेदप्रयोगः स्वतः ।

यल्लोभोपहतस्त्वदीयशरणेऽभून्मे पितृव्यः स्विकां

मर्यादामपहाय पूर्वपुरुषायातां श्ववृत्त्या स्थितः ॥ ६ ॥

दौघारिकः (प्रविश्य) जेदु जेदु महाराजो । आगराण्यरा

जयतु जयतु महाराजः । आगरानगरात्

आयादो भद्रमुहणामा चारणो दुश्चारि चिह्नइ ।

आयातो भद्रमुखनामा चारणो द्वारि तिष्ठति ।

तत्कौटिल्य स्मरन्क्रोधावेशवशात्तमभिलक्ष्य कथयति प्रतापः—
रे स्लेच्छाधिपेति । रे इति असदामन्त्रणे, स्लेच्छाना भक्ष्याभक्ष्यादिवि-
वेकशून्यानाम्, अधिपः प्रमुस्तस्मद्बुद्धौ, एतेन महापापाचारित्वमस्य
द्योत्यते । दुर्विनीत ! एतेन स्वायंसाधकशीलत्वमस्य बोध्यते । कौटिल्य-
जालेन-मायाप्रपञ्चेन, आकुलो व्याप्तः, सर्वतो भावेन कौटिल्यप्रपञ्चितः,
त्वया-अकबरेण, हृदिस्थत्वात् क्रोधावेशवशाच्च साक्षात्सन्मुखस्थितमिव
मन्यमानेन सुभ्रमचशब्दप्रयोगः कृतः । विरचितः कोऽपि शिशोर्दियाधंशीयः
प्रतापविरुद्धस्सन्नस्मत्सविधे समयात्विति निर्मितो भेदस्य-प्रयोगः, दिष्ट्या
त्वदीयशुभपारम्बोदयान्, रूढं-सजात, पदं-स्थान यस्य स तथा आरी-
पितपदः सन् स्वत एव त्वदीयव्यापारनिरपेक्ष एव फलितः सफलता
गतः । तमेव भेद दर्शयति । यत् लोभेन उपहतः—लोभोपहतः, राज्य-
लिप्सया युक्तो मे पितृव्यः—पितृप्राता सगरसिंहः, पूर्वपुरुषायाता-वश-
परंपरानुगता, स्विका-स्वकीया, मर्यादा-स्वाधीनतारूपा स्थितिम्
अपहाम त्यक्त्वा, “अधीनवृत्तिमेव श्वकृत्यं मन्यमानः कथयति” । श्ववृत्त्या
‘सेवा श्ववृत्तिराख्याता’ त्वदधीनवृत्त्या स्थितः सन् त्वदीयशरणेऽभूत् ।
अगमेव भेदो यन्मे तितृभ्यो राज्यलिप्सया त्वत्सविधे प्राप्तः ॥ ६ ॥

आगरेति । अकबरनिवासस्थानात् स्वनामख्यातात्यत्तनात् ।

पूर्वकमेति । पूर्वजन्मकर्मप्रभावेण अनु परचादस्मिन् जन्मनि प्राप्ता,

प्रता०—(मनसि) तन्नगरवृत्तान्तपरिज्ञानाय प्रेषितश्चरोऽप्यम् ।
(प्रकाशम्) प्रवेशाय ।

(ततः प्रविशति तेन सह दीवारिकः ।)

प्रता०—दीवारिक ! त्वं स्वनियोगमशून्यं कुरुष्व ।

(ततो निष्कामति दीवारिकः ।)

प्रता०—भद्रमुख ! स्वगमनात्प्रभृति कथय आगरानगरवृत्तान्तम् ।

भद्रमु०—मुखोदु महाराजो । पुन्यं अरुवरेण अप्पाणं आरियं
शृणोतु महाराजः । पूर्वमरुवरेण आत्मानमार्यं

क्षत्रियं संपादयितुं बन्धुणा कहिया । ततो तेहि बन्धुणेहि
क्षत्रियं संपादयितुं ब्राह्मणाः कथिता । ततस्तैर्ब्राह्मणैः ।

कहियं । पुन्यकर्मणो पहावेण जहा राया वा धणिओ
कथितम् । पूर्वकर्मणः प्रभावेण यथा राजा वा धनिको

नित्याम् अग्निशिखीम्—अप्रच्युतस्थिरैकरूपा, जाति न कोऽपि, परावर्तयितुं-
शुद्धा जाति क्षत्रिया विधातु, समर्थः । जातेर्नित्यत्वात् न तत्परावर्तनं
भवतीति भावः । ननु 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' इति
प्रामाण्यात् क्षत्राधिप्राणकर्तृत्वरूपा कर्मानुसारिणी क्षत्रियजातिः
सिध्यतु । चातुर्वर्ण्यमस्यार्थं भावः । गुणकर्मविभागेन चातुर्वर्ण्यं
सृष्टमिति चेत्, चातुर्वर्ण्यं—मित्यस्याभिप्रायापरिज्ञानात् । तच्चेवम्—चातुर्व-
र्ण्यस्य सृष्टौ कर्तृत्वं कस्येत्याकाङ्क्षाया मयेति पदयोष्यस्य ईश्वरस्येति
भवन्निरपि वक्तव्यम् । अन्यथा मयेत्यर्थकं स्यात्, गुणकर्मणोरचेतन-
त्वेन चातुर्वर्ण्योत्पादने सामर्थ्याभावाच्च । मया कृष्णेन जगन्नियन्त्रा
ईश्वरेण गुणकर्मणी विभज्य चातुर्वर्ण्यं सृष्टम् । यथा दयादाक्षिण्यादयः
रामाविका गुणाः, यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहाः कर्माणि
ब्राह्मणानाम् । एवं क्षत्रियादीनामपि गुणकर्मणी विभक्ते एव । एतदशो
एवास्य तात्पर्यम् । किञ्च—यदि कर्मानुसारिण्येव जातिरित्यभिनिवेश-
स्तदा जीवस्य गर्भागमनसमये पूर्वजन्मकालिकं कर्मादायैव ।

वा रंको वा होइ एवं चेव पुण्वकम्मणो पहावेण
 वा रङ्को वा, भवति, एवमेव पूर्वकर्मणाः प्रभावेण
 बम्हणो वा छत्तिओ वा सुद्धो वा होइ । पुण्वकम्मा-
 ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वा शूद्रा वा भवति । पूर्वकर्म-
 गुणया णिच्चा जाई ण कोऽपि पणावट्टिउं समत्थो ।
 जुगता नित्या जाति न कोऽपि परावर्तितु समर्थः ।

जातो जीवः समुत्पद्यते इति जायमानो बालो ब्राह्मणः क्षत्रिय इति
 व्यवहित्यते । उक्तं हि छान्दोग्ये पञ्चमेऽध्याये । तद्यथा “इह रमणीय-
 चरणाभ्यासो ह यत्ते रमणीया योनिमाप्नोरेन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं
 वा वैश्ययोनिं वा । अथ य इह कपूयचरणाभ्यासो ह यत्ते कपूया
 योनिमाप्नोरेन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ।” इति ।
 एतदेवाभिप्रेत्य न्यायदर्शनसूत्रेऽप्युक्तम्—“पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः”
 इति । मनुनाऽप्येवमेवोक्तम्—“शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थाययता नरः ।
 वाचिकैः पक्षिमृगता मानसैरन्त्यजातिताम्” । इत्यनाशे एवास्य भावः
 संभवति न तु जायमानस्य ब्राह्मणादेः परावर्तने । क्रिच-गुणकर्मणो-
 रचातुर्वर्ण्येन सह कः सम्बन्ध इति जिज्ञासाया द्रव्यद्रव्ययोरेव संयोग इति
 नियमेन संयोगाभावाद्, अवयवावयविनोरिव गुणगुणिनोऽक्रियाक्रिया-
 चतोरश्च नित्य समवाय एव सम्बन्ध इति मन्व्यम् । ततश्च ब्राह्मण-
 गुणानां न ब्राह्मणात्सार्थक्येनावस्थानं संभवति । एवं च ब्राह्मणोत्पत्ति-
 सहस्रता एव ब्राह्मणगुणा उत्पद्यन्ते, नहि दयादालिण्यादयो गुणा
 आत्मगताः सन्तो ब्राह्मणस्वात्मन उत्पत्त्यनन्तरं स्थापयितुं शक्यन्ते ।
 नापि विभिन्नगतास्ते गुणा इति कथमपि नावयितुं पार्यते । नापि
 ब्राह्मणस्यात्मनि अविद्यमाना गुणा अन्यस्थानादागत्य ब्राह्मणत्वं
 साधयन्ति । किन्तु सहैव गुणाः समुत्पन्नाः, एव कर्माणि । अन्यकर्म-
 कर्तृत्वे तु अनधिकारचर्चैव विधीयते नतु ब्राह्मणत्वं विहन्यते । अतः
 एव अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तं चाव्यापयीत इत्यादि समञ्जते । इत्यलमन-
 यहूत्तेन, इति प्रासङ्गिकत्वात्समयोपयोगाद् व्याख्यातम् । अथ
 प्रकृतमनुसरामः ।

प्रता०—साधु साधु ! विद्वद्भिर्युक्तियुक्तं शास्त्रमर्यादानुगतमेवो-
क्तम् । ततस्ततः ।

भट्ट०—तत्रो तेहिं बम्हणेहिं कहियं, जहा तुमं दाणप्पहावेण
ततस्तेर्वाद्वाणैः कथितं, यथा त्वं दानप्रभावेण
राया भूओ एव्वं चेव विवेअपरिच्चाएण कपूआ-
राजा भूतः, एवमेव विवेकपरित्यागेन कपूया-
यरणेण मिलिन्धो जाओ । अओ पुब्बकम्मप्पहावस्स
चरणेन म्लेच्छो जातः । अतः पूर्वकर्मप्रभावस्य

प्रतापः कथयति—विद्वद्भिः-श्रुतिस्मृतिपुराणतत्त्वज्ञैः, अन बहुत्वात्
सर्वैरप्येकमत्येन उक्तमिति बुध्यते, युक्-या युक्तं-तर्कस्थानुकूलम्, शास्त्राणां
श्रुतिस्मृतिपुराणानां, मर्यादायाः-आप्तपुरुषव्यवहारस्य च अनुकूलमेवा-
भिहितम्, न एषु तेषामुक्त्या शास्त्राण्याप्तव्यवहारश्च मिथ्यन्ते इति ।
'आप्तवचन वेदाश्च प्रमाण'मिति वदता न्यायसूत्रकारेण आप्तवचनस्य
वेदस्यप्रामाण्यं स्वीकृतमिति तैर्विद्वद्भिरपि तदनुकूलमेवोक्तमित्यर्थः ।
दानप्रभावेणेति । प्रत्येककर्मणो निमित्तफलजनकराद् दानकर्मणः फलं
घनिना कुले समुत्पत्तिः ।

ननु दानादिशुभाप्यवसायगताद् यथा राजराजेश्वरस्य गृहे जन्म
एवमेव तस्मादेव शुभाप्यवसायाद् ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य वा गृहे जन्म
कथं न जातमिति तद्विविच्य दर्शयति —

विवेकपरित्यागेनेति । विवेकस्य भक्ष्याभक्ष्यादिविचारस्य परि-
त्यगेन । कपूयेति । कपूयानां दुष्कर्मणामानचरणेन म्लेच्छा म्लेच्छजाती-
यो यानो जातः । अतः पूर्वकर्मणि । पूर्वजन्मनि कृतस्य कर्मणः प्रमा-
नस्य अस्मिन् यवनशरीरे विद्यमानत्वान् अनेन यवनशरीरेण क्षत्रियो न
भविष्यति । ननु—“अस्त्रीकारेण शतौना ब्राह्मणानुमदेय च । पूयन्ते तत्र
पाणिष्ठा महानातकिनोऽपि ये” इति वचनप्रमाणवाप्रायश्चित्तादिना शुद्धि-
द्वारा तस्य क्षत्रियत्वमस्तु इति चेन्न, अस्त्रीकारेणेति वचनस्याप्राश-
ङ्ग्यवन्धात् । तथा हि अभक्ष्यभक्षणे अगम्यागमने च कृते सति शक्तिभिः

इमस्मिं सरीरस्मि विज्जमाणत्तेण अणेण सरीरेण
 अस्मिन् शरीरे विद्यमानत्वेन अनेन शरीरेण
 द्यत्तिओ ए होइस्ससि ।
 च्चत्रियो न भविष्सि ।

प्रता०—साधु, साधु, अद्यापि निःस्पृहाः सत्यैकनिष्ठा ब्राह्मणाः
 सन्ति । तस्ततः ।

भद्र०—जदा बहुलोद्दंशणप्रकारेण वि चम्हणा ए सत्थविमुहा
 यदा बहुलोमदर्शनप्रकारेणापि ब्राह्मणा न शास्त्रविमुखा
 जाआ नदा अकयरौ द्यत्तिएहिं सह संबंधिउं उज्जुत्तो
 जाताः तदा अकयरः च्चत्रियैः सह संबन्धितुमुचुत्तः ।

परित्यक्तस्य महापातकिनः प्रायश्चित्तादिना शुद्धौ ब्राह्मणैरनुग्रहमुद्धया
 आमन्त्रणनिमन्त्रणस्वीकारादिना तत्संग्रहे कृते ज्ञातिभिः सहभोजनादिना
 तत्स्वीकारे च कृते महापातकिनः शुद्धिरित्यत्रैव तात्पर्यं न तु पूर्वजन्मकृत-
 पापप्रमावेण समुत्पन्नस्य शुद्धिरपि बोध्यते । किञ्च ज्ञातिभिः परित्यक्तस्यैव
 ज्ञातिभिरङ्गीकारो विधीयते, न तु ज्ञात्यपरित्यक्तस्य अन्यज्ञातिसमुत्पन्न-
 स्यापि । अपि च यवनज्ञातिसमुत्पन्नस्य स्वसमानज्ञातिभिरेव स्वीकरणं
 विधीयते नतु विजातिभिः । अन्यच्च-पातकित्वमपि तस्य न सिध्यति,
 किमुत महापातकित्वम् । तथा हि—कप्याचरणपातकप्रभावात् यवनकुले
 समुत्पत्तिरिति तत्पातरूपलभोगस्तु जात एव । पातकफलभोगानन्तरं
 पापस्यैवाभावात्, न खलु विहितापराधदण्डभोगानन्तरमपि दण्डः
 संभवति । अतो म्लेच्छज्ञातिसमुत्पादकपापस्य म्लेच्छजातौ उत्पत्तौस्तत्फल-
 भोगेन तत्पापस्य नाशात्किञ्चित् प्रायश्चित्तं स्यादिति न प्रायश्चित्तादिना
 च्चत्रियो भवितुमर्हतीति तात्पर्यार्थः ।

बहुलोमेति । राज्यदानमानादिलोमदर्शनस्य प्रकारेणापि यदा
 ब्राह्मणाः ब्रह्म वेदस्तजानन्तीति ब्राह्मणाः, वेदार्थत्वज्ञाः शास्त्रविमुखाः
 शास्त्रमर्यादापराङ्मुखा न जाताः । यदा शास्त्रविमुखा इति । अपिशब्दो
 भिन्नक्रमः शास्त्रविमुखा अपि । शस्त्रेभ्यो विमुखाः मरणपराङ्मुखा अपि

मानं विहाय यदि जीवसि तर्हि नार्यो
लोकास्त्वदीयचरितानि कथं स्मरेयुः ॥७॥

ततस्ततः—

भद्र० तत्रो इत्रो रज्जलोहात्रो विणिक्तो सअरसीहो
तत इतो राज्यलोभादिनिष्कान्तः सगरसिंहा
मिलिच्छाहिराय उवगत्रो ।
श्लेच्छाधिराजमुपगतः ।

प्रता०—श्रुतमेतत् । ततस्ततः—

भद्र०—तत्रो तेण भोदीयपयाजणवट्टमाणो सअलो वि वुत्ततो
ततस्तेन भवदीयप्रजाजनवर्तमानः सकलोऽपि वृत्तान्तः
कहित्रो, तं सोऊण पडिषणायं मिलिच्छराणण ।
कथितः, त श्रुत्वा प्रतिज्ञात श्लेच्छराजेन ।
तुमं चेव मेवाडदेसाहिवहं करिस्सामिच्चि ।
त्वामेव मेवाडदेशाधिपति करिष्यामीति ।

श्लेच्छराजस्याकबरस्य, अनुवर्त्तनेन-अनुयायितया देशदास्यतासमादनेन,
क्रियत्-क्रियत्परिमित, धन स्यात्, देशदास्यतासमादनापेक्षया बहुतरमपि
धनमलभ्यमेवेति भावः । अथ मानशून्यस्य आर्यस्य जीवनमपि न संभव-
तीति कथयति । यदि त्वं मानं क्षत्रियत्वाभिमानं विहाय स्वकत्वा जीवसि
तर्हि नार्यः, आर्यो नास्ति । अयमा न आर्यो नार्यः, नार्यं नञ्, किन्तु
निर्देष्टार्थको न शब्दः । अनायोऽस्त्यर्थः । न खलु मानं परित्यज्य आर्यो
जीवन्तीति भावः । अथवा मानपरित्यागेन मानसिद्धेति नाम्न्यपि मानपद-
परित्यागात् यदि जीवसि-यदि ते स्थितिर्भवति, तर्हि नार्यः किन्तु कार्याकार्य-
विवेकशून्यः मूर्खप्रवृत्तिः सिद्धः पशुरेवासीत्यर्थः । अथ भाविनि कालेऽपि
तव दुर्यश इति प्रदर्शयति-लोका जनास्त्वदीयचरितानि कथं स्मरेयुः
'त्वदीयचरितानि गर्हिततया स्मरिष्यन्तीति भावः । 'विभाषा कथमि-
लिङ् च' इति भविष्यदर्थे गर्हाया लिङ् ॥ ७ ॥

प्रता०—(सकोधम्)

रे नीचाधिप ! चिन्तयात्मकुशलं न स्थास्यसि त्वं चिरं
कृत्तां मन्निशितासिना स्वपृतनां श्रुत्यैव संधक्ष्यसे ।
यच्छक्तिं मिलितः प्रतापविजयस्त्वज्जय्यतानिर्गतो
वीर्यामधिपः स जीवति, कथं मेवाडमोक्षिष्यसे ॥ ८ ॥

ततस्ततः—

भद्र०—तश्चो सो सयरसीहो तन्वयणं बहु मण्णंतो अप्पाणं
ततः स सगरसिहस्तद्वचनं बहु मन्यमानः आत्मानं

प्रतिज्ञातमिति । प्रतिज्ञापूर्वं कथितम्, किं प्रतिज्ञातमिति तत्स्वरूपं
दर्शयति—त्वामेवेत्यादि ।

अथ मेवाडदेशस्याधिपतिं करिष्यामीति भवणतः सकोधं कथयति
प्रतापः—रे नीचाधिपेति । रे इति असदामन्त्रणे । नीचाना-नीच-
प्रकृतिकानां, मानसिंहसगरसिंहादीनाम्, अथ वा-नीचानां नीचजातीय-
यवनादिशूद्राणाम् अधिपः, न तु आर्यब्राह्मणादिहिन्दूनामप्यधिपस्त्व-
मिति भावः । तत्समुद्बो हे नीचाधिप ! आत्मकुशलं-स्वकुशलं, चिन्तय-
स्वकुशलस्य सदसत्ता विचारय । त्वं निर-बहुकालं, न स्थास्यसि-न जीवि-
ष्यस्यस्यस्यः । कथमिति चेद् दर्शयति । मम निशितेन-वीक्षणेन, अस्मिना-
गद्गेन, कृत्ता-छिन्ना, स्वपृतनां-स्वकीयसेना, श्रुत्यैव-भयगमावृत एव,
संधक्ष्यसे-दग्धान्त-करणः सन् मृता भविष्यसि । तत्र हेतुं प्रदर्शयति ।
यत्-यरमात्कारणात् शक्ति-शक्तिसिंहम्, अथ च प्रमावोत्साहमन्त्रजा
शक्ति, मिश्रितः-संगतः, मिश्रित इत्यत्र गत्यर्थत्वात्कर्तरि प्रत्ययः ।
प्रतापविजयः तस्मात्कारणात्स्वज्जय्यतानिर्गतः, जेतुं शक्यः-जय्यः, तस्य
भावो जय्यता ततो निर्गतः, जेतुं शक्यताया बहिर्भूतः, वीर्यामधिपः-
वीराधिपतिः, सः प्रसिद्धः, प्रतापविजयः जीवति, स मेवाडं कथम्
क्षिप्स्यसे । प्रतापे जीवति सति ते मेवाडदर्शनमपि न संभवति कुतस्तत्रापि
इति भावः ॥ ८ ॥

तत इति । तदनन्तरं, स सगरसिंहः, तद्वचनं-तस्य अकसरस्य
यचने, बहु मन्यमानः-यथा अनेन प्रतिपादितं तथैवायं करिष्यति, मा

तच्छ्रे समर्पियवतो । तच्छ्रे मिलिन्ध्राहिराण
तदर्थे समर्पितवान् । तदनु श्लेच्छाधिराजेन
चित्तोरपदेशस्त दुग्गो तस्स विन्नो । अत्रो पर भवन्तो
चित्तोरपदेशस्य दुर्गस्तस्मै दत्तः । अत पर भवन्त
पमाण ।

पमाणम्

(ततो निष्क्रान्तो भद्रमुखः ।)

(मनसि)

प्रताप—रे क्षत्रियापसद ! कुक्कुरवृत्तिमाप्तो

नीचाश्रितोऽसि परिहाय निजप्रभावम् ।

नाहं तव स्मृतिपथ समुपागतः स्या

मात्मीयतातचरितं तु कथं स्मृतं न ॥ ६ ॥

रे रे कातर ! दुर्विदग्ध ! कुमते ! भेदैकवाचस्पते !

मद्दुर्धर्पसुवीरविज्रमभिया किं लीयसे स्वक्षितौ ।

मेवाहाधिपतिं विधास्यतीति तदाशयः । आत्मानं स्व तदर्थे श्लेच्छा
धिपतये समर्पितवान्, तदाश्रिता स्वीकृतवान् । तदनु इत्यादि सुगमम् ।

प्रताप मनसि कथयति—रे क्षत्रियेति । क्षत्रियेष्वपसद नितरा हीन-
स्तत्सबुद्धौ, रे क्षत्रियाधम ! कुक्कुरवृत्तिं स्ववृत्तिमाप्तं सन्, निजप्रभाव-
स्वप्रतिष्ठा, परिहाय त्यक्त्वा, नीचाश्रितोऽसि शूद्रजातीय श्लेच्छराज-
माश्रित्य स्थितोऽसीत्यर्थः । अहं तव स्मृतिपथ—स्मरणविषयता, न
समुपागतः स्याम्, आत्मीयतातचरितं—परमशौर्यशालितया सुप्रविद्धम्
आत्मीयतातस्य भीष्मसामाज्यतातचरणस्य चरितम्, यो हि एकाशा-
तिव्रजैर्जर्जरितोऽपि स्वाधीनता न त्यक्तवानित्यादि तु कथं न स्मृतम्,
त्वया दृष्टमेव तच्चरितं स्मृतिपथं कथं न नीतमित्यर्थः ॥ ६ ॥

रे रे कातरेति । रे रे कातर ! रे मीरो !, रे दुर्विदग्ध ! रे कुमते !
दुष्टमते !, रे भेदैकवाचस्पते ! भेदे परस्परभ्रात्रादीनां विभिन्नतावेरादि-
सपादने एकोऽद्वितीयो वाचस्पतिः, तत्सबुद्धौ, भेदोत्पादने परमबुद्धि-
शालिन् ! मम दुर्धर्पा—परमशौर्यशालितया दुर्जयाः, ये सुवीरा —

धिकं त्वां यत्समरे ममैव कुलजं योद्धुं नियुङ्क्ते भयाच्चित्तोरं नच रक्षितुं प्रभवसि त्वं तु प्रतापोन्मुखः ॥१०॥

परमयं सगरसिंहः कथं तमुपगतः ।

(पुनर्विचिन्त्य)

अस्तु । सगरसिंहस्यास्मत्पितृव्यस्यैवाधिकारे चित्तोरदुर्गं इत्यात्मवंशे एव, ततो नाहं यावत्सगरसिंहं तं परायर्तयितुं यतिष्ये ।

तत्परावर्तने वंशे यैरमायः समुज्ज्वलेत् ।

दोषः पितृव्यघाते स्यात् तस्मात्तत्रैव तिष्ठतु ॥ ११ ॥

परमात्तमवीराः तेषां विक्रमभिया-पराक्रममयात्, स्वचित्तो-स्वकीयममौ, किं लीयते । स्वनिवास विहाय बहिरागत्य युद्धाय किं न सज्जीमवसि । यत्-यस्मात्कारणात्, त्वं प्रतापोन्मुखः-प्रतापसंमुखस्थितः, चित्तोरं-चित्रपुरनामकं दुर्गं रक्षितुं न प्रभवसि, तद्वक्ष्ये न समर्थो भवसि तत् तस्मात्कारणान्मे मम वैरविषौ ममैव पितृव्यत्वात्पूज्यं कुलजं पितामहपुत्रं सगरसिंहं योद्धुं भयाद् नियुङ्क्ते-नियोजयसि । यवनहस्ता-चित्तोरदुर्गोद्धार आग्रश्यकः, तदुद्दारे पितृव्य एव परिपन्थीत्यसम-शयमेव ॥ १० ॥

पुनरिति । यवनहस्ताचित्तोरदुर्गोद्धार इत्येवास्मत्कर्तव्यं तत्तु निष्पन्न-मपेति पुनर्विचिन्त्य मनसि कथयतोत्यध्याहार्यम् । अथ विचारस्वरूपं प्रदर्शयति-सगरसिंहस्येत्यादि मुगमम् ।

तत्परावर्तने इति । तस्य-चित्तोरदुर्गस्य, परावर्तने-सगरहस्तादुद्धृत्य स्वायत्तोक्तरो, वंशे-स्वकीये एव वंशे यैरमायः समुज्ज्वलेत्, संभारनापां लिङ् । सगरविनाशे केचित्तरक्ष-पातिनो वैरापिष्यन्ते इत्यर्थः । किञ्च-पितृव्यस्य, घाते-मारणे, दोषः स्यात्, पितृव्यमारणे महापातकं च संपद्येत । तस्मात् वंशे यैरमयाति-

(अयोपतिष्ठते दीवारिकः ।)

दौवा०—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—किमस्ति ।

दौवा०—कण्णरावतकन्हपुरोहिआइआ दुवारि समुवट्टिया ।

कण्णरावतकण्णपुरोहितादिका द्वारि समुपस्थिताः ।

तत्थ भयंतं दट्ठुं अहिलसन्ति ।

तत्र भवन्तं द्रष्टुममिलपन्ति ।

(प्रतापः स्वयं द्वारि समुपतिष्ठते । सर्वान्सानुनय प्रवेशयति ।

‘विजयतामेकलिङ्गेश्वर इति परस्परमभिब्रुवन्ति । ततो

यथास्थानं सर्वे उपविशन्ति ।)

प्रता०—किमाज्ञापयितुमनुगृहीतोऽयं जनः ।

पुरोहितः—राज्यपीठाधिरोहणानन्तरं प्रथमपर्वसंप्राप्ती आखेटार्थं

गन्तव्यमेव खलु कुलाचारः, तत्राखेटलाभालाभाभ्यां

भाविशुभाशुभकल्पनं क्रियते । अतोऽद्य भवद्भि-

राखेटार्थं गन्तव्यम् ।

प्रता०—यथा भवतामाज्ञा ।

(ततः सर्वे उत्तिष्ठन्ति । द्वारि समुपतिष्ठन्ते ।)

प्रता०—दीवारिक ! आखेटे गन्तव्यमिति चेताकं सज्जीकारय ।

तृष्यमारण्यप्रायश्चित्तभयाच्च तत्रैव अस्मद्देशीये सगरसविषे एव
तिष्ठतु । एतेन अस्मदभीष्टसिद्धिरपि संपद्यते एव ॥ ११ ॥

विजयतामिति । विजयतामेकलिङ्गेश्वरः स्वामीष्टदेवता एक-
लिङ्गेश्वरः सर्वोत्कृष्टतया वर्तताम् । अज्ञानिना हृदयेऽपि तव वासो
भवतु न ते वृत्तः परादुमुखा भवन्त्विति तात्पर्यार्थः । एतेन स्वामीष्टदेव-
ताया विजयप्राप्त्यर्थं न विरुध्यते । कुलाचार इति । एतेन तात्पर्य-
मावश्यकमिति व्यज्यते ।

द्वितीयोऽङ्कः ।

दो०—जं देवो आणवेदि ।

यदेव आज्ञापयति ।

(इति निष्क्रम्य अश्वपरिचारकमाज्ञाप्य यथास्थानं स्थितः ।)

(सालुम्बादयः चेतकं प्रशंसन्ति ।)

सालुम्बः—अत्युत्तमस्ते चेतकः अहमेवं मन्ये ।

हरेर्हयेभ्यो हरितां परिक्रमे विनिर्गतो ऽसौ तव चेतको हयः ।

हरिस्सवर्णो हरिवंशनायकं भवन्तमाराद्धुमुपागतो भवेत् ॥ १२ ॥

शक्ति०—महाराज ! चंचूर्यमाणं तस्य मुखं दृष्ट्वा अहमेवं संभावयामि ।

कथं क्षमायाः क्षणमात्रतः क्रमे

भवेन्नु मे सिद्धिरितीव चेतकः ।

चलाचलप्रोथपदेन मारुता-

त्मजस्य मन्त्रं जपतीव सन्ततम् ॥ १३ ॥

हरेरिति । हरितां—दिशां, परिक्रमे—परिक्रमणसमये, हरेः—सूर्यस्य हयेभ्यः अश्वेभ्यः, विनिर्गतः—सूर्यरथाद् बहिर्भूतः, हरिस्सवर्णः—हरितां दिशां समानवर्णः, दिक्सदृशनीलवर्णोपलक्षितः, अयं—चेतकाण्यो हयः हरिवंशस्य नायकं—हरिवंशनायकं सूर्यवंशभ्रेष्ठं, भवन्तम् आराद्धुं—सेवितुम्, भुवं—पृथिवीम्, उपागतो भवेत्, संभावनायां लिङ् । सूर्याश्वानां हरिद्वर्णोपेतत्वात्तस्यैवाशौ अश्व इति मे प्रतिभाति । तीव्रगतित्वात् सूर्याश्वानामिव वर्णोपेतत्वात् सूर्याश्वत्वेन उत्प्रेक्षापूर्वको निश्चयः ॥ १२ ॥

अश्वो मृशं नासिकोष्ठं चालयतीत्यश्वस्वभाव एव । तदवलोक्य उत्प्रेक्षमाणः शक्तिसिंहः प्रतापं संबोध्य कथयति—कथं क्षमाया इति । क्षणमात्रतः—क्षणमात्रेण, क्षमायाः—पृथिव्याः क्रमे—क्रमणे, मे—मम सिद्धिः कपन्तु भवेत्, इतीवेति । इति हेतोरिव, चेतकः चलाचलप्रोथपदेन—नितान्तचञ्चलनासिकोष्ठस्थानेन, मारुतात्मजस्य—हनुमतः, मन्त्रं, सन्ततम्—अविरतं, जपति इव । 'चलनं कम्पनं कम्पं चलं लोलं

रावतकृष्णः—महाराज !

पदे समुत्थाप्य तव द्विपो गलं
 ग्रहीतुमिच्छन्निव खं विगाहते,
 पुनश्च तत्र त्वनवाप्य ते रिपुं
 रसातलं शोधयितुं समीहते ॥ १४ ॥

पुरो०—साधु रावतकृष्ण ! साधु । अनिर्वचनीयोऽस्य
 चरणन्यापारः—

मत्स्वामिप्रतिपत्तमङ्गकुहरे कञ्चिन्निलीय स्थिता
 गोत्रा गोरिपवे ददाति निभृतं धान्यं धनं भूरिशः ।

इत्यमरः । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इति चामरः । चञ्चल नासिकोष्ठस्था-
 नमवलोक्योदग्रेक्षते, माहृततुल्यवेगवतो माहृतात्मजस्य प्रज्वलित्यसिद्धये
 आराधनामयं करोतीति भावः ॥ १३ ॥

अथ रावतकृष्णश्चेतकाश्वस्य चेष्टामवगत्य तदवगतये प्रताप-
 मुन्मुलीकरोति—पदे इति । असी चेतकः, पदे—हस्तस्थानीयो चरणौ
 'पदे ध्यवसितश्राणस्यानलक्षमाद्भिवस्तुपु' इत्यमरः । समुत्थाप्य तव,
 द्विपः—शत्रोः, गलं—करठदेशं, ग्रहीतुम्—उपादातुम्, इच्छन्निव,
 खम्—आकाशं, विगाहने । अथ तव शत्रोर्गलग्रहेभ्युपेय आकाशे पदे
 उत्थापयतीति भावः । अथ तव शत्रूणां युद्धस्यागेन पलायनानन्तरं
 मृतानामन्तरिक्षेऽप्राप्तेस्तस्य चेष्टान्तरमाह । अथापि आकाशे गमनानन्तर-
 मपि, तत्र तु—आकाशे तु, त्वदीयं रिपुम्, अनवाप्य—अप्राप्य, पुनः,
 रसातलं—पृथ्वीतलं, शोधयितुं, समीहते—चेष्टां करोति । पापाचरणेन
 अधोगामिनं त शत्रुमन्वेषयतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

अथ पुरोहितो रावतकृष्णो नितमनुमोदयन्पादकुट्टनं वर्णयति—
 मत्स्वामीति । गास्त्रायते इति गोत्रा—पृथिवी, कञ्चन—अनिर्वचनीयं
 धर्मविषदाचारित्वादग्राह्यनामानं, मत्स्वामिप्रतिपत्तमम स्वामिनः प्रति-
 पत्तमूर्तं यवनम्, अङ्गकुहरे—कोटरूपे विवरे, निलीय—निह्नूत्य, स्थिता
 एतो, 'यवना मृता भूमौ निखन्यन्ते' इति यवनानामाचारस्तदेवाभित्यो-

इत्यस्या जडतां निरीक्ष्य बहुश क्रोधादिमां क्षोभयन्
पादात्कुट्टति शिञ्जयत्यपि जडे मैव विदध्या पुन ॥ १५ ॥

प्रताप — एवमेवैतत् ।

(ततो निर्गच्छन्ति सर्वे ।)

(पटोन्नयनम्)

(आखेटमाचर्य एकत्रोपविशन्ति ।)

(ततः प्रविशति आरण्यकप्रबन्धकर्ता सेनापतिः ।)

सेनापतिः—जयतु जयतु महाराजः ।

प्रताप—कथय आरण्यकानां वृत्तान्तम् ।

सेना—

त्वदीयमाखेटकयानवृत्तां श्रुत्वैव भीता सहज विरोधम् ।

हित्वा समुद्रिग्नहृदश्च सर्वे पलायिता वन्यमृगाः समन्तात् ॥ १६ ॥

छेदते—निलीय स्थिता गोत्रा, गोरिषवे—गवाः शत्रवे यवनाय, निभृत—
विनीत यथास्यात्तथा 'वश्यं प्रणेत्यो निभृतविनीतप्रभया समा' इत्यमरः ।
मूरिश धान्य ग्रीष्मादिक धनं स्वर्णरजतादिकं ददाति । इत्येतत्स्वरूपा 'यद्
इयं गोत्रा गोरिषवे धनं धान्यं ददाती' तिस्वरूपाम्, अस्या—पृथिव्याः,
जडता मूर्खता, निरीक्ष्य, क्रोधादिमां गोत्रा, क्षोभयन्—सत्रासयन्, हे
जडे—मूर्खे, पुनरेव मां विदध्या इति शिञ्जयन्—बोधयन्सन्, पादात्कुट्टति—
ताडयति । नायं माह किं तु निषेधार्थको माशब्दस्ततो ह्युद्धृतः । यवना-
नुकूलाचरणादिमां पृथिवीमयं कुट्टतीति भावः ॥ १४ ॥

ततः इत्यादि सर्वं सुगमम् ।

अथ सेनापतिराखेटवृत्तात् वर्णयति—त्वदीयेति । त्वदीय-
त्वत्सम्बन्धि, आखेटकयानवृत्तम्—मृगयागमनवृत्तान्तं, श्रुत्वैव—आकर्ण्यैव,
नत्ववलोक्येति भावः, भीता—त्रस्ता, समुद्रिग्न हृदयं येषां ते तथा-
मयोद्रिग्नमानसाश्च, सर्वे वन्यमृगाः—सिंहवराहशशमृगादयः, सहज
विरोध—स्वामाविकं गोत्रायादिसम्बन्धिनः वैरमाव, हित्वा त्यक्त्वा,

किं बहुना—

एकः खे द्विजराजमध्यमहितः सुस्थो मृगो मोदते

यहीं शक्तिधरस्य राजति सुखी हंसो गिरः शोभते ।

शेते शैलसुताहरिर्गजमुखः क्रीडत्युमाङ्कान्तरे

यान्त्यन्ये भयतो दिशोऽपि विदिशः सर्वेऽप्यरयोद्भवाः ॥१७॥

समन्तात् पलायिताः । भयान्न कश्चिदपि विरोधिनमवलोकयतीति संभूय सर्वे गच्छन्तीति भावः । एतेनास्य प्रतापातिशयो बोध्यते ॥ १६ ॥

अथाखेटबहिर्भूतान्मृगान् दर्शयति । एकः इति । एकः केवलाः, 'एको मुल्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । खे-आकाशे, द्विजराजश्चन्द्रस्तस्य मध्ये महितः पूजितो, मृगः, सुस्थः भयादिरहितः सन्, मोदते-आनन्दति, तत्र तत्र गमनाभावात् तस्य भयमस्तीत्यर्थः । तथा अन्यः, शक्तिधरस्य-स्वामिकार्तिकस्य यहीं-भयूरः, सुखी राजति, स्वामिकार्तिकस्य संबन्धान्न तस्य भयमस्तीति भावः । तथा अपरः गिरः-सरस्वत्याः, हंसः शोभते । देहलीदीपकन्यायात् सुखी इति उभयत्र संबध्यते । तथा एकः शैलसुतायाः, हरिः-सिंहः, शेते, सुखावस्थाया शयनमिति सिंहस्वभावः । तथा एको गजमुखः-गजाननः, गजमुखत्वाद्गणेशकारणं सूच्यते । उमाङ्कान्तरे-नार्यत्याः क्रीडामध्ये, क्रीडति, सोऽपि तत्रैव स्थितो न पुनर्बाहिः क्रीडति । एतेषां दैविकशक्तिसम्बन्धात् भवता तत्र गमनाभावाच्च न भयमस्तीति भावः । अन्ये सर्वेऽपि अप्यरयोद्भवाः पशुपत्तिसरोरुपादयो भयतः-भीत्या दिशोऽपि-सुरक्षितमार्गादपि, विदिशो-विकटमार्गान्, यान्ति । एष एवा-खेटप्रकारः । यदेका दिक् पन्था वा तेषां पलायनार्थं मुख्यते, ततश्च प्रार-ब्धरहिता विदिशोऽनुधावन्तीति न तेषां हनने दोष इति तात्पर्यार्थः ॥१७॥

तत्र—

भवन्मौर्वीशब्दं भवविहितदीनार्तनिनदा

निशम्यालोक्य स्वान्सुतग्रहकलत्रप्रियजनान् ।

मृगाछासाद् गन्तु सज्जनयनाश्चातिविरहात्

समायातु प्रेम्णा स्थितिममिलपन्तो दहशिरे ॥ १८ ॥

(ततः प्रविशति आरण्यकवृत्तान्तपरिज्ञानाय प्रेषितधरः ।)

धरः—जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—कथय तावदारण्यकानां वृत्तान्तम् ।

धरः—किं नाम तेषु वक्तव्यम्—

फेरुपेरि सधनगहने पादयुग्मे निपण्णः

किञ्चिच्चोर्ध्वं समुदिततनुर्द्रष्टुमोहां विधत्ते ।

फेत्तुर्वन्त्स्थान् खलु मृगयते स्थानतः स्थानमन्यत्

गच्छन् स्वेषु प्रजति सहसा वाशितस्य क्रमेण ॥ १६ ॥

अपिच—

यहाँ स्वर्केषां परिरक्षणाय प्रसादयन्त्यति कानने त्वाम् ।

जात्याऽप्यवध्यत्वमसौ ततोऽगात्केकाशमुद्रोषितसाधुवादः ॥ २० ॥

किञ्च हंसाः

धुं-धुं-कृतं तनयमात्मभिया विहाय

गच्छन् विहायसि परिक्रमिमातनोति ।

भूयश्च सन्निहितशस्त्रिणि वर्तमानो

हंसः स्तवीति तव कारुणिकप्रवृत्तिम् ॥ २१ ॥

तत्र विचित्रैव दृष्टा मृगराजस्य । यथा—

शिहो भक्तगजेन्द्रकुम्भदलने नासेयते विक्रमं

क्रोधायातमपि क्षुधातद्ददयो नो हन्ति तद् धेनुकम् ।

नादत्ते सलिलं च शुष्करसनो धर्माकुलो विह्वलः,

किन्तु त्राणमनाप्य घोरविपिने भीत्या परिभ्राम्यति ॥ २२ ॥

गजस्तु—

नागो नैव सरोरुहेषु विचरत्याभ्रान्तचित्तो भिया

मन्दं मन्दमुपैति जोरकवनात्सभ्यक् क्षुधासंकुलः ।

शालोस्यापि निशां मियां स्वनयने सोढ्यवासमामीलयन्

निहोतुं स्थमलद्रिगं मृगयते नोर्चं त्वनोचरिपतिः ॥ २३ ॥

किं बहुना—

व्यालो याति समूषकश्चटकिका श्येनान्विता निर्भया

काकोलूककुलं परस्परमहो गोव्याघ्रमास्कन्दयत् ।

तप्तः सूर्यकरैर्निपीदति शशो व्याघ्रोदरानातपे

सर्वे प्राणभिया प्रयान्ति विदिशो नो शत्रुमाच्छिन्दते ॥२४॥

सुगमत्वान्न व्याख्यायन्ते । अन्व्याख्यत्वात्स्वस्वरेषु प्रकाशिताः ।

अथ चरः आशयकानां वृत्तान्तं वर्णयति—फेरुतिति । फेरु-
पादद्वयमात्रे स्थितः, किञ्चित्स्वल्पमेव, ऊर्ध्वमुपरिभागे, समुदिता उन्नता,
तनुः—शरीरं, यस्य सः, तथोक्तः सन्, द्रष्टुमीहा—चेष्टा, विधत्ते—करोतीत्यर्थः ।
अहमवलोकयेय मा न कश्चिदवलोकयत्विति किञ्चिदेवोचिष्ठति, एष खलु
शृगालदर्शनप्रकारः । तथा फेरुर्बन्—फेःकारश्चन्द कुर्वन्, स्थानतः—
एकस्मात्स्थानात्, अन्धःस्थानं गच्छन्, स्वान्—शृगालान्, मृगयते—
अन्वेपयति । वाशितस्य क्रमेण तिरश्चा शब्दानुसृत्या 'तिरश्चा वाशितं स्तम्भं'
इत्यमरः । स्वेषु—स्वकीयेषु, शृगालसमूहे सहसा व्रजति-गच्छतीत्यर्थः ।
एष खलु शृगालस्वभावः, यत्परस्परं शब्दं कुर्वन्तः शब्दानुसरणेन एक-
ग्रामिलन्तीति भावः ॥ १६ ॥

अथ सर्वेषामाख्यानां संभूय दत्तां दर्शयति—व्याल इति । व्यालः—
सर्पः, समूषकः—मूषकेण सहितः, याति । चटकिका—गृहादिष्ववस्थायिनी
पक्षिणी, श्येनेन अन्विता सती निर्भया याति । खोणां स्वभावत एव
भयं भवतीति चटकिकेत्युक्तम् । परं भवदाखेटप्रयापेक्षया स्वाभाधिकमपि
श्येनमयमल्पमेवेति श्येनान्विता याति । अथवा श्येनस्ततोऽप्यधिकतरभीतः
प्रतिभातीति तेनान्विता याति, स्वयमयं भीतो न मां मारयिष्यतीति श्येना-
न्विता गच्छतीति भावः । एवं सर्वत्र तर्कणीयम् । चटकिकेत्यत्र 'उदीचा-
मानः स्थाने' इति वैकल्पिक इकारः । अहो इत्याश्चर्यं, काकोलूकस्य
कुलं गोव्याघ्रं च, परस्परम्-अन्योन्यमास्कन्दयत्—संभृद्नत्, याति ।
गोव्याघ्रमत्र 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इत्येकवद्भावः । तथा सूर्यकरै-

रावतकृष्णः—

एवं च भवत्प्रतापसमुद्भूतजितकिरितरक्षुशार्दूलकण्ठी-
रवमल्लूकलुलायखड्गिजम्बुकगौधेरशाल्यवृककुरङ्गचीनचमूरु-
शम्बरगवयशशादिभिर्भयादितस्ततो भ्रमद्भिः क्रूरहिंसकसत्त्वैः
समन्ततो व्याप्तमिवारण्यमिदानीं संपद्यते ।

स्तप्तः—धर्माकुलः, शशः व्याघ्रोदरस्य, अनातपे-छायायां, निपीदति । शशस्य
स्वभाव एवायम्, यदयं गच्छन्तस्वल्पामपि छायांमवलोक्य तत्रैव निपी-
दति । सर्वे—पक्षिसरीसृपजङ्गमादयः प्राणमिया—स्वप्राणमयेन, विदिशः—
विरुद्धदिशः, प्रयान्ति गच्छन्ति, शत्रुं-रिपुं. नो आश्चिन्दते—नैव मारय-
न्तीत्यर्थः । आरण्यकानामत्यन्तभयजनकत्वात्तत्र प्रभावस्य लोकातिश-
यित्वं बोध्यते ॥ २४ ॥

एवं चेति । आरण्यकानां दिग्गमित्वेन तत्र प्रतापेन समुद्भूतैः,
किरीट्यारम्य शशादिपर्यन्तस्य द्वन्द्वः तत्र किरिः—सूकरः, तरक्षुः—विभ्रकः,
चीता इति लोके प्रसिद्धः, शार्दूलः—व्याघ्रः, कण्ठीरवः—स्कन्धदेशे सटा-
युक्तः सिंहः, मल्लूकः—शृङ्खलः, भालू इति लोके, लुलायः—महिषः,
खड्गी—गण्डकः, गैडा इति लोके, जम्बुकः—शृगालः, गौधेरः—गोह इति
प्रसिद्धः, पुंजातीयः सरीसृपः, शल्यः—सूनाकारलोमा स्याद् इति लोके
प्रसिद्धः, वृकः—क्षुद्रगर्दभसमकायः अजामतकः मेढहा मेढ्रिया वेति लोके
प्रसिद्धः, कुरङ्गः—मृगः, चीनः—अजासदृशो हरिणविशेषः, घोड इति
लोके, चमूरुः—विभ्रकयिन्दुयुक्तो हरिणविशेषः, शम्बरः—कृष्णवर्णो हरिणः,
गवयो—गोसदृशो गलकम्बलरहितः पशुः, शशः प्रसिद्धः । अन्यत्सुगमम् ।

अथ प्रतापनिश्चयमाह—तर्हीत्यादि । यदि हिंसकसत्त्वैर्व्याप्तमारण्य-
मस्ति, तर्हि क्रूराः—दुष्टस्वभावाः ये वृकमल्लूकादयः, तथा हिंसकाः—
हिंसनशीलाः, ये व्याघ्रादय आरण्यकास्तेषां, संशोचनाय-मारणार्थं,
पुनरपि यतिनव्यम्, यद्यपि पूर्वं संशोभितं परं नाद्यापि सर्वथा शुद्धं
जातमिति पुनरपि संशोचने यत्नः कर्तव्यः । एतेनास्य स्वभावे धैर्य-
मवगम्यते ।

प्रतापः—तर्हि कूरहिंस्रकसत्त्वानां संशोधनाय पुनरस्माभिः
प्रयतितव्यम् ।

सालुम्बशक्तिप्रभृतयः—अवश्यमेव । सालुम्बः शृणु घुर्घुरायमाणः
कोल इत एव आगच्छतीव ।

प्रतापशक्ती—साधु साधु, अस्माभिरप्यवगम्यते ।

अत्रान्तरे घुर्घुरघोररावी

कोलः समुद्वेजितवीरवर्गः ।

अरण्यगो मर्मरपर्णशब्दात्

प्रतापशक्त्योरथ लक्ष्यगोऽभूत् ॥ २५ ॥

प्रतापः—आकर्णमाकृष्य निशातबाणं

क्षिप्नोति कोले सहसा निहन्तुम् ।

अलक्षितः सन्स चिभिद्य लक्ष्यं

जगाम भूमी न च लक्षितोऽभूत् ॥ २६ ॥

अथ तत्रागत वराहं वयंयति—अत्रान्तर इति । अत्रान्तरे-
अस्मिन्नवसरे, घुर्घुर इति, घोरं—भयंकर, रवितुं शीलमस्येति घुर्घुरघोर-
रावी, सम्यक् प्रकारेण उद्वेजितः, वीरवर्गः वीरसमूहः येन च तथा ।
कोलः—वराहः, शतशोऽप्यवान् जट्टघान्तरे विदीर्य, एष खलु वराहस्व-
भावः, यद्यं जट्टघान्तरे प्रविश्य अश्वानामण्डकोशं विदारयतीति,
तत्कृत्वा । अथ प्रतापशक्त्योः—प्रतापसिंहशक्तिसिंहयोः 'आतुर्ज्यायसः'
इति प्रतापेत्यस्य पूर्वनिपातः । लक्ष्यगो लक्ष्यविषयोऽभूत् । प्रतापशक्तिभ्या
युगपद् दृष्ट इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथ वराहदर्शनानन्तरं तयोः कृत्यमाह—

आकर्णमिति । प्रतापः, निशातबाणं—तीक्ष्णबाणम्, आकर्णं कर्ण-
पर्यन्तम्, आकृष्य सहसा कोले क्षिप्नोति, बाणेन वराहं जघानेत्यर्थः । अत्र
आकर्णमाकर्षणेन वेगातिशयित्वं निशातत्वेन अप्रतिहतशक्तितया अन्तर्या-

(शक्तिरपि कोलं लक्ष्यं विधाय वारुणं मुञ्चति ।

स तु प्रतापवाणमार्गेणैव निगतेः

कोलः घोरशब्दं विधाय मृतः ।)

प्रतापः—(अरण्ये गत्वा मृतं कोलमवलोक्य स्ववाणमन्विष्यन्
तमप्राप्य शक्तिवाणमुत्थापयति ।)

शक्तिः—राजन् मया निहतः किरिः, मदीयोऽयं शरः इति मा
प्रहोः ।

प्रतापः—नहि २ मयैव किरिर्निहतः मौनमास्ताम् ।

मित्यं सूच्यते । सः वाणः प्रक्षेपसमनन्तरमेव अलक्षितः सन्, [लक्ष-
वराहरूपं शरव्यं, विभिद्य तन्प्रान्तः प्रविश्य, भूमौ जगाम, तदनन्तरमपि
न च लक्षितोऽमृत्, भूमावपि प्रविश्यन् नैव लक्षितो जात इत्यर्थः ।
वराहं विभिद्य भूमावन्तः प्रविष्ट इति तात्पर्यार्थः । एतेन लोकातिशय
बलवत्त्वं प्रतापस्य व्यज्यन्ते ॥२६॥

अथ वराहतनीः प्रतापवाणनिःसरणानन्तरमाह—शक्तिर्हिहोऽपि
शरं मुञ्चति । येन मार्गेण प्रतापस्य शरो निःसृतस्तेनैव मार्गेण
यिनिर्गतोऽमृत् बहिर्विनिःसृतोऽमृत् । स लक्षितोऽपि, बहिर्निस्सरणसमये
निःसरणानन्तरं च सर्वदृष्ट इत्यर्थः । एतेन प्रतापबलापेक्षयाऽस्य स्वल्प-
बलवत्त्वं सूचितं भवति, यतो हि प्रतापशरो वराहं विभिद्य निर्गतोऽलक्षि-
तम् । शक्तिशरस्तु वराहशरीरमविभिद्य प्रतापशरनिर्मितमार्गेणैव निस्सृतो
न भूमौ प्रविशेत्, किन्तु बहिः पतितः, सर्वलक्षितश्च । अत एव वास्त-
विकेऽपि प्रतापकृतविषाते प्रमाण्यामावात्, अवास्तविके शक्तिकृतविषाते
प्रमाणोरलक्ष्येः 'मया प्रतापेन अयं हतः, नात्र त्वदुक्तो किमपि प्रमाणम्'
'मया शक्तिर्हिहोऽपि अयं हतः' एवं तयोः प्रतापशक्तिर्हिहोर्विषादः—
फलदः, अयासीत् । इति विरोधे शीघ्रम् ।

तत्संकुलं तत्रस्थैः सर्वैरप्युच्यते) यसुंधरे ! केयं ते
वरा भाविनी ।

प्रतापः शक्तिरहितो न जेतुं प्रभविष्यति ।

यसुंधे हा निगडिता नीचाना मा वशं गमः ॥२८॥

अथ विवादस्य भयंकरताबीजं दर्शयति—आवच्योरिति । तव च
मम चेति । 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' इत्येकवद्भावः ।
आवयोः खड्गः—खड्गपदं शस्त्रोपलक्षकम्, कुन्तो वा बाणो वा । स्वय-
मेव, निर्याय—केन वराहो हत इति निश्चयम्—विधास्यति । अत्र निर्याये
यस्य जयो भवेत्तेनैव किरिंराहो निहतः । यस्य जयो भविष्यति स एव
शूर इति कृत्वा तत्कृतमेव वराहहननमिति स्वत एव निश्चयो भविष्यतीति
तात्पर्यायः ॥२७॥

शक्तिसिंहोऽभीत्यादि सर्वं सुगमम् । मुद्धादौ तयोः स्वरूपं प्रदर्शयति—
पराधीनताप्राप्तेस्तवेयं का दशा भाविनीत्याह—प्रताप इति ।
शक्तिरहितः—प्रतापस्य शौर्यशालितया शक्तिसिंहस्यैव नाशो भविष्यतीति
शक्तिसिंहरहितः, अथवा—भ्रातुर्मारणेन ८ प्रभावोत्साह-

रामगुरुः—(उभौ संबोध्य वदति) भोः २ स्वस्वसंरम्भादुभौ
विरमताम्, जीवतोरुभयोर्देशः दास्यं नोपगच्छेत् अन्यथा
युष्मदर्थं मया आत्मोत्सर्गः क्रियते ।

(इत्युक्त्वा अकालजलद इव निधुप्य उभावन्तरा
समुपस्थितः ।)

(यदा एवमपि प्रतापशक्ती स्वस्वसंरम्भात् विरतौ, तदा
पुरोहितो रामगुरुः परयतोर्द्वयोर्मध्ये उपेत्य स्वं हृदयं
भित्त्वा क्षणेन न्यपतत् ।)

(तदनन्तरं रक्ताप्लुतदेहं भूमी लुठन्तं तयो रक्षकं देशस्योपकृती
मुमुक्षुः किमपि साहसं विदधतं तं रामगुरुं दृष्ट्वा भूरक्षणे प्रजा
सु अनिर्वचनीयं साहसमभूत् । अथ रामगुरुमवलोक्य तौ
ह्यपि विरतौ ।)

मन्त्रशक्तिरहितः प्रतारः जेतुं श्लेष्माधिपतिमकसरं विजेतु न प्रमद्विष्यति—
न समर्थो भविष्यति । हा इति शोके । हे वसुधे ! सर्वसमृद्धिसम्पूर्णं !
त्वं निगडिता-परायत्तत्वेन पदयोर्यदा सती, नीचानां यवनजातीयानां
वश, मा गमः—न प्राप्नुहि ॥ २८ ॥

अथ रामगुरुरात्मपातोद्देश्यं भावयति । युवयोर्जीवतीः, देशः—
अस्माकं मातृभूमिर्मेवाहः, दास्यं दासता नैवोपगच्छेत् । देशस्वातन्त्र्य-
रक्षार्थम् आत्मोत्सर्गः—आत्मघातः, मया विधीयते, यथा सहर्षं देश-
रक्षार्थं मया प्राणत्यागः क्रियते तथैव युष्माभिरपि कर्तव्यम् । देश-
स्वातन्त्र्यार्थं प्राणास्तृणवत् त्याग्या इति तदाशयः । अन्यत्सर्वं सुगमम्

अथ रामगुरोः कृत्यमाह—सः—रामगुरुः, परयतोर्द्वयोः मध्ये उपेत्य
क्षणेन—क्षणमात्रेण, स्वं—स्वकीयं हृदयं भित्त्वा विदोयं तयोः—पूर्वोक्तयो-
र्भाषोः—प्रतापशक्तिसिंहयोः, रक्षकं, देशस्योपकृती—देशोपकारार्थं तदीय-
त्यागं—देशस्वातन्त्र्यार्थं स्वकीयप्राणत्यागरूपं रामगुरोः कृत्यं दृष्ट्वा,
प्रभानु-प्रजामध्ये, देशरक्षणे—मातृभूमिरक्षायां लोकातिशायित्वा अनिर्वचनीयं

शक्तिः—(सगर्वं साभिमानं च) नहि २ मया हतोऽयम् ।

प्रतापः—आवयोर्निर्णयं खड्गः स्वयमेव विधास्यति ।

जयो यस्य भवेदत्र तेनैव निहतः किरिः ॥ २७ ॥

शक्तिः—आगच्छ ते गर्वं चूर्णयामि ।

पुरो०—‘नैतद् युक्तम्, मैवं विदध्याः, भ्रात्रोः संप्रामो नैवोचितः,
इति वदत्स्वेव पुरोहितादिषु द्वावपि प्रतापशक्ती स्वस्व-
कुन्तौ समुत्थाप्य योद्धुं सन्नद्धौ ।

(ततः क्रोधास्फुरिताधरोष्ठौ आरक्तविशालविस्फारित-
नयनौ अकाण्डप्रलयकालसमुद्रसमभयंकरनिनादौ अ-
न्योन्यमाक्रमितुं हन्तुं च प्रवृत्तौ ।)

(ततस्तत्करुणं तत्रस्थैः सर्वैरप्युच्यते) वसुंधरे ! केयं ते
दशा भाविनी ।

प्रतापः शक्तिरहितो न जेतुं प्रभविष्यति ।

वसुधे हा निगडिता नीचानां मा वशं गमः ॥ २८ ॥

अथ विवादस्य भयंकरताबीजं दर्शयति—आवयोरिति । तव च
मम चेति । ‘त्यदादीना मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छ्लिष्यते’ इत्येकग्रन्थावः ।
आवयोः खड्गः—खड्गपदं शस्त्रोपलक्षकम्, कुन्तो वा बाणो वा । स्वय-
मेव, निर्णय—केन वराहो हत इति निश्चयम्—विधास्यति । अत्र निर्णये
यस्य जयो भवेत्तेनैव किरिर्वराहो निहतः । यस्य जयो भविष्यति स एव
शूर इति कृत्वा तत्कृतमेव वराहहननमिति स्वत एव निश्चयो भविष्यतीति
तात्पर्यार्थः ॥ २७ ॥

शक्तिसिंहोऽपीत्यादि सर्वं सुगमम् । युद्धादौ तयोः स्वरूपं प्रदर्शयति—
पराधीनताप्राप्तेस्तवेयं का दशा भाविनीत्याह—प्रताप इति ।
शक्तिरहितः—अथावस्य शौर्यशालितया शक्तिसिंहस्यैव मायो भविष्यतीति
शक्तिसिंहरहितः, अथवा—भ्रातुर्मारणेन शहकलहतया प्रभावोत्साह-

रामगुरुः—(उभौ संवोध्य वदति) भोः २ स्वस्वसंरम्भादुभौ
विरमताम्, जीवतोरुभयोर्देशः दास्यं नोपगच्छेत् अन्यथा
युष्मदर्थं मया आत्मोत्सर्गः क्रियते ।

(इत्युक्त्वा अकालजलद इव निघुप्य उभावन्तरा
समुपस्थितः ।)

(यदा एवमपि प्रतापशक्ती स्वस्वसंरम्भात्न विरतौ, तदा
पुरोहितो रामगुरुः पश्यतोर्द्वयोर्मध्ये उपेत्य स्वं हृदयं
भित्त्वा क्षणेन न्यपतत् ।)

(तदनन्तरं रक्ताप्लुतदेहं भूमौ लुठन्तं तयो रक्षकं देशस्योपकृतौ
मुमुक्षुः किमपि साहसं विदधतं तं रामगुरुं दृष्ट्वा भूरक्षणे प्रजा
सु अनिर्वचनीयं साहसमभूत् । अथ रामगुरुमवलोक्य तौ
द्वावपि विरतौ ।)

मन्त्रशक्तिरहितः प्रतापः जेतुं श्लेष्माधिपतिमकबरं विजेतुं न प्रमविध्यति—
न समर्थो भविष्यति । हा इति शोके । हे यमुषे ! सर्वसमृद्धिसम्पूर्णं ?
त्वं निगडिता-परायत्तत्वेन पदयोर्वदा सती, नीवानां यवनजातीयानां
यशं, मा यमः—न प्राप्नुहि ॥ २८ ॥

अथ रामगुरुरात्मघातोद्देश्यं धावयति । मुवयोर्जीवतोः, देश-
अस्माकं मातृभूमिर्मेवाहः, दास्यं दासतां नैवोपगच्छेत् । देशस्यातन्य-
रक्षायाम् आत्मोत्सर्गः—आत्मघातः, मया विधीयते, यथा सहर्षं देश-
रक्षायं मया प्राशत्यागः क्रियते तथैव युष्माभिरपि कर्तव्यम् । देश-
स्वातन्त्र्यार्थं प्राणास्तृणवत् त्याज्या इति तदाशयः । अन्यत्सर्वं मुगमम्

अथ रामगुरोः कृत्यमाह—सः—रामगुरुः, परयोर्द्वयोः मध्ये उपेत्य
क्षणेन—क्षणमात्रेण, स्वं—स्वकीयं हृदयं भित्त्वा—विदीर्य तयोः—पूर्वोक्तयो-
र्भ्रातृयोः प्रतापशक्तिविहयोः, रक्षकं, देशस्योपकृतौ—देशोपकारार्थं तदीय-
स्वार्थं—देशस्वातन्त्र्यार्थं स्वकीयप्राशत्यागरूपं रामगुरोः कृत्यं दृष्ट्वा,
प्रजानु-प्रजामस्ये, देशरक्षणे—मातृभूमिरक्षायां लोकातिशायित्वा अनिर्वचनीयं

प्रजा० आः—किमिदं जातम् । इति प्रतापे कथयत्येव रामगुरु-
मुत्थाप्य कर्णरावतकृष्णौ क्वचिन्नीतवन्तौ । प्रतापः शक्ति-
सिंहं संबोध्य ब्रवीति । रे शक्ते ! त्वत्कृत एव इदं जातं,
तस्मात्त्वं मेवाडभूमेरपसर ।

शक्तिसिंहः—(निःश्वस्य साश्रुनयनः सर्वान्सालुम्बादीन्विलोक्य भूमिं
प्रणम्य च ।)

क्षमे ! क्षमस्वैतद्वेहि सूर्यः कुक्षौ न जातस्तव दुर्जनोऽयम् ।
मेवाडदेशं यदसौ श्मशानभूमिं विधायैव सुखं मिमीते ॥२५॥

साहसम् अभवत् । तथाभूतं तत्कृत्यमवलोक्य सर्वेऽपि तृणवत्प्राणान-
मन्यन्तेत्यर्थः ॥

त्वत्कृते एवेति । अत्र त्वमेवापराधी । तव लघुत्वाद् गुरुकथ-
नानन्तरमप्यविरामात्, ज्येष्ठस्य ममानादरकरणाच्चेद जातम् ।
तस्मात्तथाभूतस्य पातकिनः पवित्रभूमेरपसरणमेव श्रेय इति तदादिशति—
तस्मात्त्वमित्यादिना ।

अयं शक्तिसिंहोऽपि निःश्वस्येति स्वापराधाभावं मन्यमानोऽनुचित-
दण्डावगतेः साश्रुनयनः इति सालुम्बादीनां वियोगात्, स्वकीयकर्तव्य-
विरुद्धमेवाहर्षसनिश्चयकरणाच्च ।

अथ शक्तिसिंहः निश्चयं प्रदर्शयति—क्षमे इति । क्षमे—क्षमास्वरूपे,
परमसहनशीले, क्षमस्व—उचितकर्तव्यतापरित्यागेन ममापराधं क्षमस्व ।
अथवा, पक्षान्तरं दर्शयति—त्वमेतद्वेहि-जानीहि । अयं—प्रत्यक्षतया
विद्यमानः, दुर्जनः—खलः, सूर्यः—दुष्टपुत्रः, तव कुक्षौ न जातः मातृभूमि-
रक्षणावीरप्रसवायास्तव कुक्षेर्मादृशस्य देशद्रोहिणो दुष्टपुत्रस्य जन्म न
संभवतीति त्वमेतदवगच्छ, नायं मेवाडभूमेर्जातः । तथावगमने कारण-
माह । यद् यस्मात्कारणाद्, अयं मेवाडदेशं श्मशानतुल्यं विधायैव
सुखं मिमीते । स्वकीयां मातृभूमिं श्मशानतुल्यां कृत्वा सुखमसौ मनुते
इति नैतादृशस्य त्वत्तो जन्म संभवतीति नायं मेवाडभूमेरुत्पन्न
इत्यर्थः ॥ २६ ॥

पटोन्नयनम्—अकबरः स्थितः

द्वार०—जेदुजेदु देओ । कोवि इंदजालिओ दुआरे ठिओ ।

जयतु जयतु देवः । कोऽपि ऐन्द्रजालिकः द्वारे स्थितः ।

अक०—(विचिन्त्य) ऐन्द्रजालिकवेपेण प्रेषितः मुहम्मदनामाचरः ।

(प्रकाशम्) प्रवेशय । (द्वारपालः तं प्रवेशय निष्क्रान्तः ।)

अक०—ऐन्द्रजालिक रामगुरोर्मरणे शक्तिसिंहनिष्काशनान्तरं कथय ।

ऐन्द्र०—तदनन्तरं स मेवाडं श्मशानं विधास्ये इत्युक्त्वा परावृत्त्य सर्वं तत्स्थानात्प्रचलितः । सकरुणं विलपन्तं प्रतापमवलोक्य सर्वे तदुन्मुखा अभवन्, अहमपि तेषां चक्षूःपि प्रतार्य शक्तिसिंहमनुप्रचलितः ।

अक०—ततस्ततः —

ऐन्द्र०—तदनन्तरमहं वर्त्मनि शक्तिसिंहं समुज्ज्वलयन् प्रोत्साहयञ्च इहानीतवान् । तं च युष्मदीयायतनशालायामुपवेशय अहमिहायातः । मन्ये स स्वयमेव स्वल्पेनैव कालेन समुपस्थास्यते, अतः परं भवन्तः प्रमाणम् ।

अक०—मुहम्मद ! तवैतत्कार्येण अहमतिप्रसन्नोऽस्मि, अतस्त्वां सर्वगुप्तचराणामधिपत्ये स्थापयामि ।

ऐन्द्र०—अनुगृहीतोऽस्मि ।

आयतनशालायामिति धर्मशालायाम्—यत्र पान्थास्तिष्ठन्ति ।

अन्यत्सुगमम् ।

अथाकबरस्य चिन्तास्वरूपमाह—नाद्यापीति । सः—प्रसिद्धः, कण्टक इवारिः—शत्रुः, मेवाडपतिः—यवनानां मदपाटकत्वान्मदपाटकः, मदपाटक एव प्राकृते मेवाड इति सिद्धयति । सोऽयं लौकिकसंशयोधको मेवाडस्तस्य पतिः, यवनमदपाटकदेशाधिपतिः प्रतापः, अद्यापि मल्लिप्तता-मदघोषिता, न याति न प्राप्नोति । यावत्तः स्वतन्त्रः सन् मूर्ध्ना विचरेत्ता-

अक०—गच्छ, विश्राममाचर । अहमत्रैव स्थितः शक्तिसिंहं
प्रतीक्षे ।

(इति निष्कान्त ऐन्द्रजालिकवेषधारी मुहम्मदः ।)

(अकबर एकाकी स्थितश्चिन्तयति ।)

(मनसि)

अक०—नाद्यापि मेधाढपतिः प्रतापो

मन्निष्कृतां याति स कष्टकारिः ।

यावत्स्वतन्त्रो विचरेत्स भूम्या

तावत्कथं स्यान्मम सौख्यगन्धः ॥ ३० ॥

(विचार्य सहर्षमिव)

प्रतापः शक्तिनिर्मुक्तो जेतव्योऽल्पांश्चमोद्यमात् ।

मानसिंहो मम पदौ तं ध्रुवं पातयिष्यति ॥ ३१ ॥

(पुनः किञ्चिद्विमृश्य) परं मानः क्षत्रियपक्षपाती विशेषतो

मेवाहीयेषु यद्वादरः । तैः सह कथमसौ धैर्यायिष्यते ।

(पुनर्विमृश्य) संभावयामि दक्षिणदेशं विजित्य परावर्त्त-

वन्मम सौख्यगन्धः सौख्यसबन्धः, 'गन्धो गन्धक ग्रामोदे लेशे सम्बन्ध-
गर्वयोः' इति विश्वः, कुतः स्यात् । तत्स्वतन्त्रताया मम सौख्यसबन्धस्य
संभावनापि नास्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

कथमयं प्रतापो मदधीनतां प्राप्स्यतीति विचारयस्तदुपायोपगते. सहर्ष-
मिव कथयति—शक्तीति । मया शक्तिरहित—परित्यक्तशक्तिरिति;,
प्रतापः, अल्पादुद्यमात्—स्वल्पादेवोद्योगाज्जेतव्यः । मानसिंहो मम
पदौ तं प्रतापं, ध्रुव—निश्चयेन पातयिष्यति । मानसिंहस्त मदधीनतां
प्रापयिष्यतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

सेनापतिः संदिश्यतामिति । अत्रायं गूढामिसन्धिः । कदाचि-
च्छक्तिरिति एकाकिन मामवलोक्य आक्रमेत्, तदाऽयं शूरः साहसिकश्च

मानो मानो मेवाढाधिपतेः प्रतापस्य सविधे तद्रहस्य-
परिज्ञानाय मया सह सम्बन्धयितुं चोन्मार्गेषापि उदय-
पुरं गमिष्यति । तत्र मत्पत्तपातिनं मानं प्रतापो न
संमानयिष्यति । मन्ये तेन मानस्तत्रासंतुष्टः स्यात् ।

(पुनः खलेदम्) काश्मीराङ्गकलिङ्गवङ्गमरुभृत्सौराष्ट्रकर्णाटका
मत्स्यः केरलकेकयान्ध्रमगधाः पाञ्चालगान्धारकौ ।
भद्रः कोशलकच्छगुर्जरभुजाः सौवीरसिन्धुव्रजाः
एते मे वशगाः परं लघुतमो नाद्यापि मेवाढकः ॥ ३२ ॥

अस्तु—जितः कर्णाटको येन स मानः साभिमानिकः ।

ध्रुवं संमानतः स्वल्पान्मेवाढं नाशयिष्यति ॥ ३३ ॥

आगराख्यस्वराजधान्या स्थितस्य अकबरस्य चिन्तां प्रदर्शयति—
काश्मीरेति । काश्मीरः प्रसिद्धः, अङ्गः—विहारप्रदेशान्तर्गतः, कलिङ्गः—
वङ्गालप्रान्तीयो देशः, वङ्गः—वङ्गालः, मरुभृत्—मरुघरः, सौराष्ट्रः—सोम-
नाथ-महादेवस्थितिप्रान्तीयो देशः, काठियावाडः । कर्णाटकः—प्रसिद्धः,
मत्स्यः—ववलपुरप्रान्तीयो देशः, केरलः मल्लारः । केकयः—काश्मीर-
चम्पामप्यवर्ता पर्वतप्रदेशस्थितो देशः । अत्रत्यैव कैकयीति वाल्मीका-
दावस्ति । आन्ध्रः—स्वनामप्रसिद्धः, मगधः—भोजपुरप्रान्तीयः, पाञ्चालः
कान्यकुब्जो देशः, गान्धारः—रान्धारेति नाम्ना प्रसिद्ध इत्येके, जम्बू-
प्रान्तीय इत्यन्ये । भद्रः—भार्गवा इत्येके, चम्बा इत्यन्ये । कोशलः—
अयोध्याप्रान्तस्थितः, कच्छगुर्जरभुजाः—स्वस्वनाम्ना प्रसिद्धाः, सौवीरः—
मारवाडमेवाढयोर्मध्यस्थितो देशः । सिन्धुः—सिन्धुनाम्ना प्रसिद्धः व्रजाः—
मथुराप्रान्तीयः एते मे वशगाः ममाशानुगामिनः, परं लघुतमः स्वल्पः
कुत्सितो मेवाढो मेवाढकः, 'कुत्सिते' इत्यनेन, सशयां कन् इत्यनेन
वा कन् । अद्यापि न वशगाः । विमक्तिविपरिणामेन योज्यम् । बृहत्तमाना
देशानामात्मवशगामित्वेऽपि स्वल्पस्य मेवाढस्य स्वतन्त्रत्वान्चिन्तातिशयो-
द्योत्यते ॥ ३२ ॥

अथ पुनस्तदुपायलाभान्चिन्तां निरास्यत्—जित इति । येन-

(पुनर्विचिन्तय)

आः ! दुर्जयः प्रतापः । तदीयसैनिका अपि स्वस्वभुज-
दण्डखण्ड्यमानासंख्यतरक्षुभल्लूकपञ्चाननसूकराः परम-
साहसशौर्याखवेदपेसंपन्नाः स्वभूमिरक्षणेदृढव्रताः सन्ति ।
जीवत्सु तेषु कथमसौ जय्यः ।

(अत्रान्तरे प्रविशति दौवारिकः ।)

दौवा०—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—किमस्ति ।

दौवा०—मेवाडओ आयाओ सत्तिसोहो छन्तिओ दुवारि
मेवाडत आयातः शक्तिसिंहनामा क्षत्रियो द्वारि
चिट्ठइ ।

तिष्ठति ।

अक०—दौवारिक !

संदिश्यताम् सेनापतिः “मन्नियोगाद् धनुमानपुरस्सरमेनं
प्रवेशयतु ।”

दौवा०—जं देवो आणवेदि ।

यद् देव आहापयति । (इत्युक्त्वा सेनापतिं संदेष्टुं गच्छति ।)

अस्मत्सेनापतिना, कर्णाटको देशो जितः सः, अभिमानेन सह चरतीति
सामिमानिकः—अत्यधिकाभिमानयुक्तः । एतेन अस्मद्गूढाभिसन्धिषयात्
कर्णाटकविजयानन्तरं मेवाडं गच्छन्मानोऽपमानितो भविष्यतीति सामि-
मानिकत्वेन स्वत एव वैरायिष्यत इति सूचितं भवति । मानः=मानसिद्धः,
ध्रुवं सत्यात्समानतः मेवाडं-मेवाडदेशाधिपतिं, नाशयिष्यति । तन्नाशान्त
प्राधिपत्यमस्माकं भविष्यतीति, भावः ॥ ३३ ॥

दुजेय इति । ‘ईयदुःसु०’ इति खल्ल् । स्वस्वभुजदण्डेन खण्ड्य-
मानत्वात् परमसाहसिकत्वं सूच्यते । स्वभूमिरक्षणेदृढव्रतत्वेन उपायान्तरा-
भावः सूचितो भवति । जय्य इति । ‘जय्यजय्यौ शक्याथे’ इत्यादेशः ।

(ततः प्रविशति सेनापतिरहितः शक्तिरहितः ।)

शक्ति०—

प्रोद्यद्दृष्टान्धकाराधिकृतसदसदज्ञानमूढान्तरात्मा

मिथ्याहंकारफल्गूकृतनिखिलजगद्बीरशौर्यप्रपञ्चः ।

नीचानामाश्रयाद् यो व्रजति गिरिमहो भीतभीतः प्रताप-

स्तदेशध्वंसमिच्छन् वदति भगवतो वन्दकी शक्तिरहितः ३४॥

अक०—कस्मादयं प्रकोपः ?

शक्ति०—(सकोपम्) आः ! मया निपातितो घराहस्तमात्म-
कृतं मन्यमानः प्रतापो बहुभिर्यद्दुशो बोधितोऽपि
नामन्यत, प्रत्युत मयैव सह योद्धुमारभत । परन्तु
यदि, रामगुरुरन्तरा स्वात्मत्यागेन नागमिष्यत्तदा
स मृत एवाभविष्यत्, मन्ये तदैवमेव एतमरक्षयत् ।

अथ शक्तिरहितः स्वाभिप्रायं दर्शयन् यवनप्रथानुरूपा भगवतो वन्दना-
भाह—प्रोद्यदिति । प्रोद्यदतिशयेन विवर्धमानो यो दर्पोऽभिमानः स एव
अन्धकारस्तेन अधिकृतं स्वायत्तीकृतं यत्सदसद्विषयकमज्ञानं तेन मूढः
सर्वथा ज्ञानशून्योऽन्तरात्मा यस्य स तथा । मिथ्याहकारेण-पुरुषार्थरहित-
वृथाभिमानेन, फल्गूकृतः—अक्षरतया दर्शितो निखिलजगद्बीराणां-समस्त-
साधारिकशूराणां, शौर्यप्रपञ्चः—पराक्रमविस्तारो येन सः । मिथ्याभिमान-
तया स्वसदृशं कमपि नायं मन्यत इति भावः । तथा यः प्रतापः नीचानां
मिथ्यामीणादीनामाश्रयात्-तेषां साहाय्यात्, भीतभीतः—अतिभीतः सन्,
पर्वतमहो—कन्दरामधित्यका च व्रजति तदाश्रयतया तत्र तिष्ठतीत्यर्थः,
तदेशध्वंसमिच्छन्-तस्य प्रतापस्य देशं नाशयितुमिच्छन्, शक्तिरहितो भग-
वतो वन्दकी वदति । वन्दकीमिति 'संशयाम्' इति श्रुत् । यद्वा—'पर्याया-
र्हणोन्पतिषु श्रुत्' इत्यनेन श्रुत्, गौरादेराकृतिगणत्वात् गौरादित्वात्
श्रुत् ॥ ३४ ॥

कस्मादयमित्यादि सर्वं मुगमम् ।

अकथरः किमयमस्य द्वेपो वास्तविकः किं वा कृत्रिम इति मनसि विचार-
यन्निधिनोति-आरक्तेति । आ-समन्ताद्, रक्तं-रक्तवर्णं, नेत्रयुगलं-नेत्रयुगलं,

अक०—एवमेवैतत् । अस्तु । अतः परं किमभीप्सितम् ।

शक्ति०—समूलं मेवाडदेशमुन्मूलयितुमिच्छामि । अत किञ्चि-
त्सेनासाहाय्य प्रार्थये ।

अक०—(मनसि) ।

आरक्तेत्रयुगल स्फुरिताघरोष्ठो

रोपप्रकम्पिततनुर्ज्वलदुक्तियुक्तिः ।

जीर्णोऽपि तत्कथनतो नवभासमानो

द्वेषोऽस्य तन्निहनने परिशुद्ध एव ॥ ३५ ॥

(प्रकाशम्)

लंकांमिवाह मेवाडं जित्वा गर्वसमुद्धतम् ।

अभिपेक्ष्यामि तत्र त्वा यथा रामो विभीषणम् ॥ ३६ ॥

परंतु यावन्मानसिहो दक्षिणदेशं विजित्वायाति तावत्प्रती-
क्षस्य । तदागमनानन्तरमेव —

यस्मिन्स तथा । स्फुरित ईपत्स्फन्दितोऽघरोष्ठो यस्मिन्स , रोपेण प्रकम्पिता
तनु शरीर यस्मिन् , ज्वलन्ती क्रोधावेशवशादुद्धता, उक्तियुक्ति कथन-
परिपाटी यस्मिन्स तथा, जीर्णोऽपि कालान्तरतया परिक्लीणोऽपि, द्वेषस्वभाव
एवायम् यत्कालान्तरेण स्वतः परिक्षीयते, तत्कथनतः तदित्यस्य कथनेन
सह कर्मधारयः । तथाभूतकथनेन नवभासमानः नव इव प्रकाशमान , क्रोध
स्याधिक्यान्नाद्यापि जीर्ण इति भावः । पष्ठोत्पुरुषे तु कृत्रिमता प्रतीयेत ।
तस्य प्रतापस्य, निहनने-मारणे, अस्य-शक्तिसिंहस्य, द्वेषः परिशुद्ध एव ।
सर्वथा वास्तविक एव विद्वेषो नात्र कृत्रिमताया लेशोऽपीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अथ शक्तिसिंहमुद्दिश्य अकबर कथयति—लंकामिति । स्वगर्वाति-
शय बोधयति । अहमकबरः गर्वसमुद्धतम्-अभिमानोद्धत्युक्त मेवाड लंका
मिव जित्वा जय एवात्र साधारणधर्मा लंकामेवाडया , ततो गर्वसमुद्धत-
मिति लंकाया न विशेषणम् । तत्र मेवाडे त्वामभिपेक्ष्यामि, यथा रामो
विभीषणमभ्यपिञ्चदित्यर्थः । एतेन विभीषण इव त्वमपि मम साहाय्य
तन्नेदस्फोटनं च कुर्वति तत्तात्पर्यार्थः ॥ ३६ ॥

अस्मदन्तावलयधनघटाऽऽच्छाद्यमानप्रतापः

स्फारस्फूर्जन्सधनविचरत्सैन्यगर्जन्निनादः ।

विभ्राजिष्णुप्रचुरविलसद्बाणवृष्टिप्रसारो

मेवाडे मे भवतु जलदः संगरः सैनिकानाम् ॥ ३७ ॥

अथाकबरः शक्तिविहस्योत्साहं वर्धयन्कथयति—अस्मदिति ।
 अस्माकं ये दन्तावला इस्तिनस्ते धनघटा इव-मेघघटलवृत्त्याः, इस्तिन'
 बहुतरत्वेन श्यामताचिक्यात्, तैः आच्छाद्यमानः प्रतापः-प्रतापविहो यत्र,
 यदा प्रतापः-प्रभावो यत्र 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम् ।
 इत्यमरः । यत्रास्मदन्तावलीः प्रतापप्रभाव आच्छादितो भविष्यतीत्यर्थः -
 पक्षे-अस्मदन्तावला इव या धनघटाः मेघमालास्ताभिराच्छादितः प्रतापो ।
 सतापो यत्र सः । तथा-स्फारः-भूयिष्ठः 'पुरुहूः पुरु भूयिष्ठं स्फार भूरि च'
 इत्यमरः । स्फूर्जन्-वज्रनिर्घोषतुल्यः सधनः सशब्दः, विचरत्सैन्यानां गर्ज-
 निनादः क्ष्वेदा शब्दो यत्र । पक्षे स्फारः-भूयिष्ठः, स्फूर्जन्-वज्रनिर्घोषरूपः,
 सधनो-मेघसहित विचरत्सैन्यानामिव गर्जन्निनादो मेघध्वनिर्यत्र । गर्जश्वासः
 निनादः, गर्जघातोः शब्दमात्रवाचकत्वेऽपि मेघशब्दे एव बाहुल्येनोपग-
 मात् । पूर्वत्र शब्दमात्रपरत्वादवगन्तव्यम् । तथा-विभ्राजिष्णुः-शोभमानः
 प्रचुरविलसत्स्वर्ण-रजतादिपुङ्खतया देदीप्यमानः, बाणवृष्टिप्रसारः-बाण-
 वर्षणविस्तारः यत्र । पक्षे-विभ्राजिष्णुः प्रचुर विलसन् बाणानामिव वृष्टे-
 प्रसारो यत्र । तथा जलदः-जल द्यति राशद्वयतोति जलदः-जलच्छेदकः,
 पञ्चमाङ्गगतकोमलमीरपर्वते जले विषप्रक्षेपेण करिष्यमाण जलच्छेदन
 पताकारूपेण सून्यते । अथवा-डलवोः सावर्ण्यात् जडदः-जडदाता ।
 समस्तवीराणां हननात् अवशिष्टानां युद्धादिकलाशून्यानां मूर्खाणां दाता
 पक्षे-जलदः-जलैर्भूमिप्लावकत्वान्मेघवृष्टयः मे-मम, सैनिकानां संगरः-
 सप्रामो मेवाडे भवतु । अत्र 'सैनिकानां जलदः' मरणानन्तर दीयमानस्य
 जलस्य दातेति सर्वेषां सैनिकानां मरणान्नजलदः संगरो भवतु इत्यर्थान-
 वगतेर्भाविफलबोधकः प्रतापविजयः सून्यते ॥ ३७ ॥

(सेनापतेरभिमुखम्) सेनापते ! त्वमेनमार्यक्षत्रियाणां सैन्या-
धिपत्ये स्थापय । तावदयं सर्वान् तान् सज्जीकरोतु ।

सेना०—यथाऽऽज्ञापयति भवान् । (इति गन्तुमिच्छति ।)

अक०—तिष्ठ तावत् । शक्ते ! तुभ्यं कान्धारप्रदेशः प्रदीयते ।
तस्मात्त्वयाऽस्मदीयसामन्तश्रेणिमधितिष्ठता यथारुचि
मदीयगोष्ठयामागन्तव्यम् । किञ्च मानसिंहचालिता
मदीया सर्वाऽपि आर्यक्षत्रियसेना त्वदायत्तैव ।

शक्ति०—अनुगृहीतोऽस्मि ।

(उतो निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति श्रीमहामहोपाध्यायमधुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके द्वितीयोऽङ्कः ।

शक्ते ! तुभ्यमिति । तावत्त्वां कान्धारदेशाधिपतिं करोमि इति तद्देशा-
धिपत्याद् यथारुचि मदीयगोष्ठ्यामागन्तव्यमिति सामोक्तेश्च 'संग्रहः साम-
दानोक्तिः' इति लक्षणात्संग्रहाख्यसन्धिदर्शितो भवति ।

इति श्रीमहामहोपाध्यायसर्वतन्त्रस्वतन्त्रविद्यावारिधि-परिष्ठितमधुराप्रसाद-
कृतौ वीरप्रतापनाटके वैजयन्तीटीकायां बन्धुवैरनामको
द्वितीयोऽङ्कः ।

तृतीयोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(रामगुरुवियोगादत्यन्तदुःखोद्विग्नः पुष्पवाटिकायां मन्त्रिसहितः
स्थितः प्रतापश्चिन्तयति)

प्रतापः—मन्त्रिन् ! रामगुरुरत्यन्तमस्माकं शुभचिन्तक आसीत् ।
नये कविर्बुद्धिबरेषु वाक्प्रति-
विपत्प्रतीकारविधौ सदाशिवः ।

तपःसु नारायणतुल्यतामितः

क्व मे स रामः स्थितिपालनक्षमः ॥ १ ॥

(तनस्तत्रैव प्रविशन्ति सालुम्बरावतकृष्णादयः । 'जय एकलिङ्गेश्वरस्य'
इत्युक्त्वा सर्वे भूमौ एव उरविशन्ति ।)

अथ रामगुरोर्मरणानन्तरं तद्वियोगादत्यन्तदुःखेनोद्विग्नः प्रतापः
पुष्पवाटिकायामुपवने यत्र दुःखदशायां मनः प्रसादार्थं गच्छति तत्र मन्त्रि-
सहितः, प्रधानमन्त्रिसमन्वितः स्थितः सन् चिन्तयति । गुरुरेव राज्यप्रदाता,
अयं देशोपकारार्थं मृत इति किमस्यापकृतये कर्तव्यमिति विचारयति ।

अथ तद्गुणस्मरणद्वारा तमनुचिन्तयति—नये इति । नये—नीति-
विषये, कविः—शुक्रानार्यः, शुक्राचार्यस्य नीतिविषये प्रसिद्धिः, बुद्धिबरेषु
मध्ये वाक्प्रतिः, साक्षाद्बृहस्पतिरेवेत्यर्थः, तथा विपदामारत्तानां प्रतीकार-
विधौ—तन्निवृत्तितत्परतायां, सदाशिवः—साक्षान्महादेव एव । तपःसु—तप-
धर्मासु नारायणतुल्यतामितः, बदरिकाश्रमे नारायणरूपेण विष्णुना तपो-
ऽकारंति प्रसिद्धम् । पूर्वव्रामेदेन प्रतिपादनम्, इह ह्ये सादृश्येनेति । तत
इदं बोध्यते, न तथा तपसि नारायणसदृशो गुरुरस्ति यथाऽन्यकार्येषु । सः
स्थितिपालनक्षमः—मर्यादापालनसमर्थः, मे-मम, रामः—रामारूपो गुरुः कः ।
तस्येदानीं नाशान्न जाने स कुत्रास्तीति तत्स्थितेरप्यज्ञानात्तत्प्राप्तेस्सर्वथा
ऽसंभव एव । तेन निर्वेदातिशयो व्यज्यते ॥ १ ॥

प्रता०—मन्त्रिन् ! गुरोः शुभाध्यवसायकृते इह स्मारकं चत्वरमार-
चय, तत्पुत्रश्च तत्स्थाने विधीयताम् ।

मन्त्री—यथाऽऽज्ञापयति देवः । (इति दीवारिकेण गुरु-
पुत्रमाहुयति ।)

(ततः प्रविशति दीवारिकेण सह गुरुपुत्रः ।)

(सर्वे प्रणमन्ति ।)

गुरुपुत्रः—विजयन्तां भवन्तः ।

मन्त्री—प्रतापो भवन्त गुरुपदे स्थापयति ।

प्रता०—भो गुरुपुत्र ! राजाक्षया अद्य प्रभृति गुरोः स्थाने क्रियते ।

गुरुपुत्रः—संपत्तिसंप्राप्तिविधौ सुसाधू
राजत्कलानायरुची रणेपु ।

जय इति । एकलिङ्गेश्वरस्य शिवस्योपासकत्वात्तस्यैव जयं कथयन्ति-
जयः सर्वोत्कृष्टतया स्थितिरस्तु । दुःखान्तिशयाद् भूमौ एव । चत्वर-
मारचय । एतेन प्रतापस्य कृतज्ञता व्यज्यते ।

रामगुरोः कार्यस्य प्रत्युपकार तत्पुत्रे दर्शयति—तत्पुत्रायेति । तस्य
रामगुरोः पुत्रः सकलकर्मकाण्डादिप्रक्रियाया तस्यैव स्थाने विधीयताम्,
तत्स्थानापन्नतया अयमुपवेश्यताम् । अयं सर्वकार्येषु च आचार्यः स्यात् ।
अयमेव पूजनादिसर्वकार्याणामधिष्ठाता भवतु । तथा देशोन्नत्यै धर्म-
कार्याणि-अनुष्ठानदेवाचरणादीनि, विदध्यात् ।

अथ मन्त्री प्रतापाश आह्वयितुं गुरुपुत्रमाहुयति । अन्यस्तुामम् ।

संपत्तीति स्त्रियामेकवचनेन, पुंलिङ्ग एकवचनद्विवचनाभ्यां शब्द-
चित्रता दर्शयन्नाह—संपत्तीति । संपत्तेः संप्राप्तिविधौ सुसाधुः, राज-
दित्यस्योत्तरत्वात् 'रोरि' इति लोपे 'द्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽप्यः' इति दीर्घे
सिद्धयति । द्विवचने पदोर्विशेषणे सुसाधू इति । तथा रणेपु—संप्रामेपु,
राजन्ती-देदीप्यमाना कान्तियुक्तत्वात् कलानायस्य रुचिरिव रुचिर्यस्याः,
यस्य, ययोर्वा हरेर्मूर्तिः शरीरं, वाग्निचयः-वाचां समूहः, शब्दतोऽर्थतश्च

मूर्तिर्हरेर्वाग्निचय पदौ च

प्रताप ! सौख्यं भवतो विघत्ताम् ॥ २ ॥

(इत्याशिष पुष्पाणि ददाति ।)

सालुम्यः—महाराज ! गुरुपुत्रः पण्डितप्रवर. कविवरश्च ।

प्रता०—अत एव गुरुपदे स्थाप्यते ।

(ततः प्रविशति मानवृत्तपरिणामाय प्रेषितः प्रतापानुचर. ।)

(दूरतः प्रताप विलोक्य ।)

अनुचरः—सिन्दूरारुणनेत्रकान्तिरुचिर प्रामातिकेन्दुद्युति—

देहे किञ्चिदसौ दधत् शिथिलतां भूमाबुपेक्षास्थितः ।

मन्दं मन्दमिव ब्रवीति किमपि प्रम्लानचेतोऽन्तर-

खिन्नः किन्तु निशाप्रजागरवशार्त्तिकं वा शुचासद्गुरो ॥३॥

कलानायकान्तिसादृश्यमन्नावगन्तव्यम्, पदौ च चरणौ च, हे प्रताप भवत सौख्य—सुखपरंपरा, विघत्ताम् । मूर्तिर्वाग्निचय इत्यनयोराकाङ्क्षायामात्मनेपदे एकवचने विघत्ताम् परस्मैपदे द्विवचने च । अत्र शब्दचित्रत्वेऽपि व्यङ्ग्यत्वमव्याहृतमिति नावरकाव्यत्वम्, तथा मूर्तिचरणवाचे-निष्पत्तिरसमानतया सौख्यविधानमामर्ष्यवर्णनाद्भक्त्यतिशयो व्यज्यते अलङ्कारव्यञ्जनादिवर्णनं विस्तारमिया न प्रदर्श्यते । इन्द्रसभासे चान्तत्वात् टच् ।

पण्डितप्रवर—पण्डितेषु प्रकृष्टो वरः प्रवरः विशिष्टोऽस्ति । अत एवेति । एतेन स्वस्थाधितकारित्वं द्योत्यते । मूर्तिचरणवाचे अत्र ।

चवर्गान्तत्वात् टच् समाहार एकवचनं च ।

अनुचर रोदजागरणयोः साधारण्यमवलोक्य तर्कयति—सिन्दूरेति । सिन्दूर इव अरुणे—किञ्चिद्रुचे, ये नेत्रे तयो कान्त्या—सौन्दर्येण रुचिरः—मनोहरः, प्रामातिक—प्रप्राप्तकालिको, यद्वन्दुश्चन्द्रस्तादृशं द्युतिर्यस्य, किञ्चित् शुक्लता राजाजागरणे शोके च भवति, अयं च देहे-शरीरे, किञ्चित् शिथिलतां दधत्, भूमौ उपेक्षया—उपेक्षाउद्धया,

(इति विचिन्तयन् प्रविशति प्रतापसमोपेऽनुचर)

अनुचरः—जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—कथय क्वेदानीं मानः ?

अनु०—दक्षिणदेशं विजित्य अभिमानसमुत्पूरितान्तःकरणो
भवन्त स्वविभव दर्शयितुमुन्मार्गैश्चैव उदयपुराभिमुखं
प्रचलितः ।

प्रता०—सालुम्ब ! एवमागमने कोऽप्यत्र गूढाभिसन्धि स्यात् ।

सालु०—(किञ्चिद्विमृष्य) मन्ये स्वविभवं भवन्त दर्शयितुं समा-
याति । अथवा आत्मवद् भवन्तमपि यदनैः सार्द्धं
सम्बन्धयितुमभिकाङ्क्षते ।

प्रता०—(वीरासनस्थ सन् खड्गमारुपति ।) आः ! क एव मयि
स्थिते यत्रनै सार्द्धं मां सम्बन्धयितुं प्रभवति ।

सालु०—एवमेवैतत्, परमयं तस्य गूढाभिसन्धिश्च्यते ।

स्थित । निशाया विचारपरपरयाऽतिजागरणेन आनस्यात् शोकाच्चैव
भवति । प्रम्लान चेतोऽन्तर यस्य स असौ प्रताप, मन्द मन्दम्—अति
मन्द किमपि ब्रवीति इव, किमपि कथयतीव । न खल्वगम्यते स्वधृति
किंकथयति । किन्तु निशाप्रजागरवशात् शक्तिरिहस्य तथापि प्रतिज्ञा
विधाय गमनात्मनस्य अकरपक्षपातितयाऽवस्थानाद्विचारपरपरया
रात्रावतिजागरणात् खिन्न । किं वा सद्गुरो —उन्नितकारितया निष्पन्नस्य
राज्यदापयितुर्गुरो, शुचा—शोकेन, खिन्न—दुःखित । अत्र वर्णितानां
धर्माणामुभयसाधारण्येन ऊहाप्यो सन्निवर्त्यन्त्यते ॥३॥

उन्मार्गैश्चैवेति । आगरा गतरतस्तस्य गमनमार्गो नाय किन्तु
स्वमार्गं परित्यज्य अनेन मार्गैश्चागच्छतीत्यर्थः । यद्वा—आर्यमर्यादा
परित्यज्य त्वा यवनैः सम्बन्धयितुमित्यसदमिलापयाऽऽगच्छतीति स्यात् ।
अन्यत्सुगमम् ।

प्रताप सालुम्बोक्तं परमार्थतो मन्यमान खड्गमारुपति—आ क

प्रता०—सर्वथा असंप्राप्तोऽयम् ।

पितुः स्वसुर्दानवशेन लब्धा मानप्रतिष्ठां शतशो घिगम्तु ।
 म्लेच्छादिसंसर्गविदुष्टपङ्क्तौ किमार्यजातो नृपतिश्च भुङ्क्ते ॥४॥
 रावत० नहि नहि कदाचिदपि कोऽप्यार्यभवस्तत्पङ्क्तौ नैव
 भोक्ष्यते ।

प्रता०—परं मन्ये तेनापमानेन मानो वैरायिष्यते ।

सालु—वैरोत्पादने दोषः कस्येत्यपि विचारणीयम् । स्वयमे-
 वासौ मानः कथं नैव विचारयति ।

प्रता०—‘न बुध्यते इत्यपि बुद्धिसाध्यम्’

यद्यपि मानस्यैव दोष इति सर्वथा युक्तं तथापि नासौ विचारयति ।

एवं मयीत्यादि कथयति च । अथ सालुम्बः० ‘तस्य गूढाभिसन्धिबन्धयते न
 तु परमार्थत इदमुच्यते’ इत्यभिप्रायेण प्रतापं सान्त्वयति ।

अथ प्रतापो मानमपाङ्क्तेयं दर्शयति—पितुरिति । पितुः स्वसुर्म-
 गवान्दासस्य भगिन्या दानवशेन लब्धां-प्राप्ता, मानस्य प्रतिष्ठा-मान-
 महत्त्वं शतशो घिगम्तु । म्लेच्छादीनां संसर्गोऽस्यास्तीति म्लेच्छादि-
 संसर्गां, तेन विदुष्टायां पङ्क्तौ—यवनसंघन्धिषिदूषितपङ्क्तौ आर्यजातः—
 आर्योत्पन्नः नृपतिः किं भुङ्क्ते । नैवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ सालुम्बः वैरोत्पादने मानस्यैव दोषं बोधयन् स्वयमेवेत्यादि
 कथयति ।

अथ प्रतापः सालुम्बोक्तं समर्थयन् कथयति—न बुध्यते इति । “इदं
 मया न बुध्यते” इति विवेकोऽपि बुद्धिगम्य एव । सच्चैवविधः प्रशारदितो
 यदात्मनः प्रत्यक्षतया स्फुटमपि दोषं न पश्यतात्यर्थः ॥

१ भगवान्दासस्य मानमिदं कृत्रिमः पुत्रः । तद्भगिनी अक-
 वराय दत्ता, मानसिद्भगिनी वेत्यत्र मतभेदः । वस्तुतस्तु दामीपुत्री सेत्यत्र
 न कस्यापि विप्रतिपत्तिः । एवं च मानमिदं पितुर्दामीपुत्री सा भगवान्-
 दासस्य दामीपुत्री तद् भगिनी वेति काकदन्तपरीक्षावन्निःसारमेवैतदिति ।

सालुम्बः—शौर्यमदोन्मत्तो भवन्तं भोजनादिसंबन्धेन संबन्ध-
यितुमेव असौ आगच्छति ।

प्रता०—युक्तं संभाव्यते, परंतु—

संबन्धने सकलशास्त्रविरोधचर्चा

त्यागे कृते तु समरः पतितो गले स्यात् ।

(अस्तु) मानो विलोकयतु मे समरे कृपाणं

मानं विहाय यदि नैव पलायतेऽसौ ॥ ५ ॥

(इति खड्ग स्पृशति)

सर्वे—वयं सर्वे सनद्धाः स्मः । यवनानां कृते आत्मजाति-
मास्कन्दत्यसौ, किमनेन शोभनं स्यात्, न खलु वयं
समराद्विभीमः ।

प्रतापः कथयति युक्तमिति । यत्त्वया संभावितं 'भोजनादिसंब-
न्धेन सम्बन्धयितुम्' इति तद् युक्तमेव संभावितम्, अहमप्येवमेव संभाव-
यामि । परमत्र किं करणीयं किं वा न करणीयमिति प्रदर्शयति—संबन्धने
इति । तेन सह भोजनादिसंबन्धस्वोकारे सकलशास्त्राणां विरोधस्य,
चर्चा—विचारणाऽस्ति । सकलशास्त्रेषु तथामृतस्य भोजनादिसंबन्धे
प्रतिषेधात्सकलशास्त्राणां विरोधः प्रसज्यते, स च दुष्परिहरः । अथ
शास्त्रमर्यादानुकूल्येन त्यागे सहभोजनादिसंबन्धस्य त्यागे कृते तु, समरः-
संग्रामः, गले पतितः स्यात् । अनभिमतोऽपि संग्रामो भविष्यतीति
संभावयामि । एव सति शास्त्रमर्यादात्वागमसहमानः संग्रामं स्वीकरोति—
मानो मानसिंहो मे मम समरे कृपाणम् अस्मि शूराः कथं युष्यन्ते इत्यादि
विलोकयतु । यद्यसौ मानो मानं स्वाभिमानं विहाय नैव पलायते ।
स्वाभिमानं विहाय पलायने एव मानप्राणरक्षा भविष्यति, अन्यथा
संग्रामे मानो मया हत एव भविष्यतीति भावः । एतेन भाविसंग्रामे
मानस्य प्रतापसंमुखानागमनं सूचितं भवति ।

अथ सर्वे स्वसिद्धान्तं कथयन्ति—'न खलु वयं समराद्विभीमः'
इति । ततोऽभ्ये कारणं प्रदर्शयन्ति क्षत्रियाणामिति । यदि क्षत्रियाणां

क्षत्रियाणां कृते धर्म्यं यदि युद्धमुपागतम् ।

अतः परमभीष्टं किं यत्स्यान्मोक्षपदास्पदम् ॥ ६ ॥

मन्त्री—परमसी अतिथिः, अतो लौकिकव्यवहारेण भोजना-
दिसत्कारः कर्तव्यः । तदीयगूढाभिसन्धिज्ञानानन्तरं
यद्गविष्यति तद् द्रक्ष्यामः । तदनुचरितं चरिष्यामश्च ।

प्रता०—एवमेव भवतु का हानिः ।

(ततः प्रविशति दौयारिकः ।)

दौवा—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—किमस्ति वक्तव्यम् ?

दौवा०—माणागमणवृत्तंतणिवेअओ एक्को भोदीओ सेणाअरो

मानागमनवृत्तान्तनिवेदक एको भवदीयः सेनाचरः

पुष्पवाडिआओ दुआरि चिट्ठइ ।

पुष्पवाटिकाया द्वारि तिष्ठति ।

कृते—क्षत्रियमुखप्राप्त्यर्थं धर्म्यं—धर्मादनपेतं धर्मानुगतं शास्त्रमर्यादा-
रक्षणोद्देश्यकमित्यर्थः, युद्धमुपागतं—प्राप्तं, स्यात् अतः परमभीष्टं किमस्ति
यन्मोक्षपदास्पदं मोक्षस्थानं स्यात् । स्वर्गात्तु क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके
विशस्तीति पुनः पुनर्दुःखानि भवन्ति । मोक्षे तु 'न स पुनरावर्तते न स
पुनरावर्तते' इति श्रुतेः सर्वथा दुःखोच्छेदात्मन्मेव । समामे मृतस्य
मोक्षो नियत एव । उक्तं हि "द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलमेदिनी ।
परिमाट् यागयुक्तरच रणे चाभिमुखे हतः ।" मोक्षस्थानं सूर्यमण्डला-
दुपयेवेति ॥ ६ ॥

परमसावित्यादि सर्वं मुगमम् ।

कृपायतिष्ठभोजनानां नीरसत्वान्न तदुपादानं कृतम् । नानाविधैस्नेह-
प्रकारैरुत्कृष्टरसैः साधनैः शर्करान्नपूतमरिचादिभिः ये संराद्यमाना मद्य-
वपः, तत्र मद्यं पृतादिभ्रष्टं चणकादिमुद्गद्विदलादि वा, मृदु शुष्कं

प्रता०—प्रवेशाय ।

(ततो दीवारिवेण सह प्रविशति सेनाचरः ।)

सेनाचरः—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—कथय कवेदानी मानः ।

सेना०—इयाणि माणसीहो सव्वं पि सेणासंरोहं उदेउरस्त

इदानीं मानसिहः सर्वमपि सेनासंरोहमुदयपुरस्य ।

दक्खिणभाअम्मि सखिणवेसिय कइवएहिं सेणासंभावि-

दक्खिणभागे सनिवेश्य कतिपयैः सेनासंभावि-

अपुरिसेहिं सुइयपासअरागुअरेहिं चेव सह उदेउरं

तंपुरुषैः इयकीयपाश्वरानुचरैरेव सह उदयपुरं

पविसमाणो भोदीयणिवासगिहाहिमुहं आगच्छइ ।

प्रविशन् भवदीयनिवासगृहाभिमुखमागच्छति ।

प्रता०—मन्त्रिन् ! त्वं कुमारं पुरस्सरीकृत्य बहुमानपुरस्सरं

मानं प्रवेशय । स्नानभोजनादिप्रबन्धं च बहुमूल्यसुशो-

भनद्रव्यैर्मधुराम्ललवणकट्वादिरसास्वादितैर्नानाविधोप-

स्करणसंपाद्यमानभक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यचर्व्यादिविविधप-

दार्थजातैर्विधेहि । सह भोजनाय यथासंभावितं व्याजः

प्रदर्शनीयः कुमारोऽपि सहभोजने नैव नियोक्तव्यः ।

सालुम्ब ! त्वमपि तदातिथ्यसत्कारेऽस्य साहाय्यं कुरु ।

अहमपि अन्तर्हितो भूत्वा सर्वं विलोकयिष्ये ।

भोजनाहमित्यर्थः । भोज्यं शङ्कुल्यादिकम्, लेह्यं श्रीखण्डादिकम्, गुजरदेशे

प्रसिद्धम् । चोष्यमात्रादिकम् । चर्व्यं तिलपर्पटकम् । इत्यादिरूपैर्विविध-

पदार्थजातैः अनेकविधपदार्थभेदैर्भोजनप्रबन्ध विधेहि । यथासंभावितम्-

संभावितमनतिक्रम्य । संभावितानुरूपमित्यर्थः ।

काचिद्योगिनीति । अनिर्दिष्टनामा योगिनी । यद्यपि इयं सेव.वेश्या

परं तु योगमार्गाश्रयणानन्तरमनिर्दिष्टनामत्वात्काचिदिष्युक्तम् । अथ

मन्त्री—यथाऽऽज्ञापयति देवः । (इति मन्त्री कुमारसालुग्राम्या सह निष्क्रान्तः ।)

पटोन्नयनम्

(ततः स्नानपूजनादिसकलकमेनिवृत्तो भोजनाय आश्रमे उपविष्टः मानः प्रतापागमनं प्रतीक्षते ।)

(ततः किञ्चिद् दूरतः समुपतिष्ठते बीणां वादयन्ती सतालं गायन्ती लोफान्प्रबोधयन्ती काचिद् योगिनी ।)

(ततस्मिन्तरमेव प्रविशति नानाविधद्रव्योपेतं राजमोजनभादाय स्पर्कारः । सूयकारो मानस्य समुत्पन्नं भोजनपानं स्थापयति ।)

(योगिनी गायति ।)

त्यज रे मान कपटमदजालम् । (मानपदधवणान्मानः समवदितः शृणोति ।)

भज शिवकरणमीशपदपङ्कजममरशिरोजयमालम् ।

उदितप्रतापतुल्यशुभदर्शनमहिमणिमण्डलशालम् ।

सुभसम्पदापरमपदप्रापकमुखिललोकपरिपालम् ॥

मानसिद्धं प्रतापपद्मानुगमनायोपदिशन्ती प्रतापस्य प्रभावातिशयं शिवपद-
काम्येन व्यञ्जयन्ती गायति ।

त्यज रे इति । रे जीव ! मानस्य-अहंस्यामिमानस्य, कपटस्य प्रपञ्चस्य, मदस्य-श्रौद्धस्यस्य गर्वस्य वा, जालं, त्यज-मुञ्च । अथ च-मानेति संबोधनम्, हे मान ! कपटमदयोजालं प्रपञ्चं त्यज । तत्स्यागान-न्तरं कार्यमुपदिशति-शिवकरणं-कल्याणकारकम्, अमराणां-देवानां, शिरोजयमालम्-शिरसि जयमालरूपेण स्थितम्, अथवा-अमरस्य अमर-सिद्धस्य शिरोजयमालम्, शिरसि जयमालरूपेण स्थितम् । ईशपदपङ्कजं-शम्भुचरणकमलम्, अथवा-ईशस्य ऐश्वर्ययुक्तस्य प्रतापस्य चरणकमलं भज सेवयेत्यर्थः ।

कथंभूतं चरणकमलमित्याह-उदितेति । उदितो यः प्रतापः सूर्य-स्तेन तुल्यम्, ईशदत्तमित्यर्थः । तथा शुभं-कल्याणकरं दर्शनं यस्य तत्, पुनर्द्वयोः कर्मधारयः । अथवा-उदितो-वर्धमानो यः प्रतापः-प्रतापसिद्धस्तेन तुल्यं शुभं दर्शनं यस्य । यथा प्रतापस्य दर्शनं शुभकरं तथैव तत्प्राप्त्यर्थः ।

लसितसुरासुरयक्षनागनरकिन्नररक्षोभालम् ।

भवभयहरणमरुणसमशोभितमधचयतपनकरालम् ॥

प्रतिदिनमगपतितनयावन्दितमाशीविषवाचालम् ।

करुणावरुणालयमहिमण्डितमधरितसरसप्रवालम् ॥

अथवा—उदितं-माषितं यद् प्रताप इति पदं तत्तुल्यतया शुभं-शुभकरं दर्शनं यस्य । यथा प्रतापनाम शुभकरं तथैव प्रतापदर्शनमपीत्यर्थः । तथा अहीनां सर्पाणां मणिसण्डलेन-मणिसमूहेन शालं शोभमानम् । प्रताप-पक्षे—अहिमणीनाम् उत्तमोत्तममणीनां मण्डलेन शालं शोभमानम् एतेन सर्पमणिसत्त्वात् लोकोत्तरसंपत्तिशालित्वं सूचितं भवति । अथवा अहीनां द्विजिह्वाणां भवत्सदृशानामित्यर्थः मणिसण्डलो यत्र एवभूतो यः अकवरस्तं शालयति पीडयति इति । श्लेपेनेयार्थो न दोषावहः । पुनर्द्वयोः कर्मधारयः । तथा सुलस्य सम्पदायाः, परमपदस्य-मोक्षस्य, प्रापकम् । अन्यत्र सुलसं-दयोर्धत्परमपदमुत्कृष्टस्थानं तस्य प्रापकम् । तथा अखिललोकानां-समस्त-चराचरसंसारिणां, परिपालं-रक्षकम्, अन्यत्र समस्तजनानां रक्षकम् । तथा लसितं शोभितं, सुरासुरयक्षनागनरकिन्नररक्षसां भालं मस्तकं येन, सुरादीनां चरणेषु निपतनात्, अन्यत्र-लसितं देदीप्यमानम् तथा सुरासुरयक्षनाग-नरकिन्नररक्षःसु भाभिः अलं शोभमानम्, पुनर्द्वयोः कर्मधारयः । तथा भवभयहरणं-संसारमयमोचकम् । अन्यत्र भवाः-प्राणिनस्तेभ्यस्तेषां वा यद्भयं तस्य हरणं-हारकम् । 'चलनशब्दार्थादकर्मकाद् युच्' इति युच् । तथा अरुणसमशोभितम्-अरुणसदृशरक्तवर्णम् । उभयत्र समानमेतत् । तथा अधचयस्य-पापसमूहस्य, तपने-संतापने नाशकरण इत्यर्थः, करालं-भयंकरम्, अन्यत्र-अधचयस्य दुष्टप्राणिसमूहस्य, तपने-संतापने, दुष्टानां निग्रहे इत्यर्थः, करालम् । तथा प्रतिदिनम्, अगपतितनया-पार्वत्या, वन्दितम् । अन्यत्र-वर्षतापिपतेः । कस्यचिद्राशः सुतया वन्दित, तत्पति-त्वात् । यद्वा अगपतेः तनयैः भिल्लपुत्रकैः आ समन्तान् वन्दितम् । तथा आशीविषैः-सर्पैः, वाचालं-कुत्सितशब्दयुक्तम् । अन्यत्र मा इति निषेधार्थं मा आशीविषाः-द्विजिह्वाः, पिशुना इत्यर्थः, वाचालाः-कुत्सितभाषिणश्च यत्र तत् । पुनर्द्वयोः कर्मधारयः । करुणावरुणालयं-दयासमुद्रम्, उभयत्र

ब्रह्मादिकसनकादिसकलश्रुतिसेवितमलिकुलकालम् ।

परमसुकृतसमुपागतदर्शनममृतसरोवरनालम् ॥ ७ ॥

मानः—(मनसि) किमियं मामघिसिपन्ती कथयति जीवं वा ?

(प्रकाशम्) प्रतापमाह्वय । अपरं च भोजनपात्रं

सज्जीकृत्यानय ।

मन्त्री—(वदन्) महाराज ! प्रतापस्य शिरोवेदनं स्तीति अन्तःपुरे शेते ।

मानः—कुमार ! त्वं गत्वा तं निवेदय । मानो भोजनासनोपविष्टः स्वामाह्वयति, आगत्य यथारुचि किञ्चिदपि भुङ्क्षाम् ।

कुमारः—महाराज ! भवान् भुङ्क्षाम् पूज्यचरणा इदानीं शेरते ।

मानः—कुमार ! त्वं गत्वा तमुद्बोध्य समानय ।

समानमिदम् । अहिमण्डितं-सर्पैः शोभमानम्, अन्यत्र अहिभिः सर्प-
वदशैः मयंकरैः वीरैर्मण्डितम् । अधरितः—अत्यन्तारूपेण नम्रीकृतः, सरस-
प्रवालः—आर्द्रविद्रुमो येन तत्, उभयत्र समानम् । तथा ब्रह्मादिभिः—
सनकादिसकलश्रुतिभिश्च सेवितम् । अन्यत्र—ब्रह्मादिकसनकादिसकल-
श्रुतीणां या सेवा, सा संजाता अस्य । तारकादित्वात् इतच् । ब्रह्मादि-
सेवालङ्गनमित्यर्थः । ब्रह्मादिसनकादिसकलश्रुतीणां सेवाकारकम् । तथा
अलिकुलेन—भ्रमरसमूहेन, कालं—श्यामवर्णम् । देवैरानीतानां पुष्पाणा-
मतिशोरमेष समागतैरित्यर्थः । अन्यत्र—रत्नयोः साम्यात्, अरिकुलस्य—
शत्रुकुलस्य, कालं—नाशकम् । परमसुकृतेन—अत्यन्तपुण्येन, समुपागतं
दर्शनं यस्य तत्, उभयत्र समानम् । अमृतसरोवरस्य—मोक्षरूपसरोवरस्य,
नालं—परमप्रवाहस्थानभूतम् । अन्यत्र अमृतम्—अयाचितं यदस्तु तस्य
यत्सरोवरं—निवासस्थानं तस्य नालम्, अयाचितस्यापि दातारम् । अमृतं
तदेव सरोवरं तत्र नालमिव नालम्, अमृतं स्यादयाचितम् । अत्र
शिवप्रतापयोः शिवचरणपद्माणां साधारण्येन उपमालंकारो व्यङ्ग्यते । तेन
शिववदशः प्रताप इति तद्वाराधनमवश्यं कर्तव्यमिति तस्या अभिप्रायः ।
अतः कपटं विहाय एतत्पञ्चमाभयस्वेति तदुपदेशः ॥७॥

कुमारः—नाहमुद्धोषयितुं शक्नोमि ।

मानः—कुमार ! त्वं ममानुरोधाद् गत्वा तमुद्धोध्य कथय ।
नासौ मानस्त्वया विना मोक्ष्यते ।

कुमा०—यथाऽऽज्ञापयति भवांस्तथा करोमि, परं पूज्यचरणानां शिरोवेदनाऽस्तीति न ते आगमिष्यन्ति ।

मानः—त्वं गच्छ कथय मत्संदेशम् । यथावचि किञ्चिदपि मुङ्क्ताम् नाहमन्यथा मोक्ष्ये ।

कुमा०—यथा आज्ञापयति भवान् । (इति निष्क्रान्तः)

मानः—(मनसि) प्रतापस्य भवेदपि शिरोवेदना परं तु कर्णलगात्मल्लादिप्रभृतयो राजवंशीयाः केचिदपि नैव विलोक्यन्ते । किञ्च सत्यामपि शिरोवेदनायामागत्य सहोपविश्य किञ्चिद्भोजने का क्षतिः, नूनमयं मां तिरस्कुर्वते । (प्रकाशम् ।)

मन्त्रिन् ! कर्णप्रभृतयोऽपि नैव विलोक्यन्ते ।

मन्त्री—महाराज ! ते सर्वेऽप्ययं आखेटार्थं गताः ।

मानः—किं भदागमनकारणादेव सर्वेऽपि आखेटार्थं गताः, किं वा व्याजोऽयम् । (अत्रान्तरे मानसिद्धपार्ष्वचरः कश्चिद्विशुभः मानस्य कर्णे एवमेवेति कथयति ।)

सालुम्बः—(अन्यायमवलम्ब्य किञ्चित्कुदः सन्) किं नाम एवमेव भवतां मदेन आगमनं साधारणतया वेति भयन्त एव

भदागमनेनेति । मम आगमनं—भदागमनम् तस्य कारणदिति मानस्याभिप्रायः । मदेन—अभिमानेन, आगमनमित्याभित्य सालुम्बः कथयति । प्रतापादिरञ्जातिरहित एकाकी मानो भोजने अनभिदन्नि प्रदर्शयन् कथयति—शोतमिति । शोतं—वा तदोषययुक्तम्, जोरसं—मधुगदिरमरदितम्, किं बहुना विरसमपि वेत् । विरुद्धरमयुक्तमपि स्यात्, तथा ऐकतं—सिकतामयम्, अत्यन्तव्याघ्रोपेतम्, अथवा—अरुच्यम्—अरुचिकरं मनःप्रतिकूलम्, रुच्यं—धृतादिरहितम्, अथवा—अदृश्यम्—अपूर्णं कथमित्यर्थः ।

जानन्ताम् । वयं तु सौहार्देन भवतामागमनमित्येव
जानीमहे ।

मन्त्री—(मानसिदृष्टिम्) महाराज ! भोजनं करोतु भवान्,
शीतीभवत्येतत् ।

मानः—शीतं वा नीरसं वा विरसमपि भवेत्सैकतं वाऽप्यरुच्यं
रुक्षं वाप्यर्द्धपक्वं च वणविरहितं दुष्कृपायत्ययुक्तम् ।
इष्टस्वज्ञातिमध्ये चणककृतमपि स्वाद्यमानं सगोत्रैः
सार्धं तद् भोज्यसौख्यं भवति तदपरं नीचवृत्त्यात्मपूर्तिः
मन्त्रिन् ! कथं कुमारोऽपि नायातः ।

मन्त्री—महाराज ! भवान् मुह्यताम् । स चाप्यागमिष्यति ।
कदाचित्पितुः परिचर्यावशाच्चिरयते ।

(एकाको भोक्तुमनिच्छन्स्वापमानं ग्रन्थमानो मनसि मानश्चिन्तयति ।)

मानः—शाकं नापि बुभुक्षतेऽत्र कुलजरचैकोऽपि साकं मया,
धिग्मे जीवनमेवमप्यभिमतं संबन्धसत्त्वं च धिक् ।

चणविरहितम् । तथा दुष्कृपायत्ययुक्तं—दुष्कृपायत्सापेत् चणककृतमपि
तद् भोजनम्, इष्टा अभिमता या स्वज्ञातिस्तस्या मध्ये सगोत्रैः—स्वबान्धवा-
दिभिः सार्धं स्वाद्यमानं, शीतादिदुष्टरसयुक्तत्वेऽपि मध्ये २ रहास्यादिना
किञ्चित्किञ्चिद् भुज्यमानं भोज्यसौख्यं भवति, तदपरं बान्धवादितिरस्कृते-
नैकाकिना भुज्यमानं नीचवृत्त्याऽऽमूर्तिः, नीचपकारेण जीवशोभायः ।
एतेन न मे श्रमेण विना हृदानो प्राणान्तरकष्टम् । अत इदं भाजनमहं
प्रतापानागमने सति त्यज्यामीति सूच्यते ॥८॥

‘किं चिन्तयतीति प्रदर्शयति—शाकमिति । अत्र एकोऽपि, कुलजः-
कुलोः, मया साकं शाकमपि न बुभुक्षते—शाकमपि भाक्तुं नेच्छति, अन्न-
भोजनादेर्वार्ता तु दूरे एव । एवमयमाने सति मे जीवनं धिक्, किमनेन
जीवनेन । अभिमतमपि सम्बन्धसत्त्वं च धिक् । शिशोदियार्थोया मे
बान्धवाः सम्बन्धिनी या इति धिक्, न मे बान्धवा नापि संबन्धिन इत्यर्थः ।
अहं तु, अहंमान एव जीवातुर्जीवितकालो यस्य स तथा । ‘आयुर्जीवि-

मानोऽहं त्वपमानभाजनमितोऽहं मानजीवातुकः,

स्वल्पैरेव दिनैः फलं फलयिता तापं प्रतापे स्वयम् ॥६॥

(ततः प्रविशति कुमारः)

कुमारः—महाराज ! तातस्तीव्रशिरोवेदनया नैवागन्तुं शक्नोति ।
भवान् भुङ्क्षाम् ।

(मानो भोजनपात्रात्पौदनतण्डुलानादाय उत्तरीये बध्ना चोत्थितः ।)

मानः—प्रकाशम् । साटोपं च ।

जानाम्यस्य शिरोगदं कपटिनो मद्दण्डसंघुटना-

त्सोऽस्मद्दीर्गणप्रभूतविशिलैर्द्वित्रैर्दिनैः सेत्स्यति ।

तीक्ष्णोदग्रकृपाणुकृत्पृतनास्तीर्णक्षमादारुणं

वृष्ट्वा स्वं विषयं स्वयं प्रशमितः शीघ्र्यो गदो मूलतः ॥१०॥

तकालो ना जीवातुर्जीवनौषधम्' इत्यमरः । मानः—माननामा, एतेन स्वस्य
गर्वातिशयो बोध्यते । यद्वा-मानोऽभिमानस्तत्स्वरूपः अपमानभाजनम्—
अपगतं यद् मानं मानेति पदं तस्य भाजनम्, इतः-प्राप्तः । एतेन मानस्य
नाशान्मम मामोच्छेद एव जातः । अथ वा मानः अहमपमानं प्राप्तस्तेन
स्वल्पैः—कतिपयैरेव दिनैः, स्वयमहं प्रतापे तापम् अस्य कर्मणः पश्चात्ताप-
रूपं संतापं फलं, फलयिता-फलयिष्यामि । अस्य कर्मणः फलमहं नेष्या-
मीत्यर्थः ॥ ६ ॥

पञ्चपौदनतण्डुलानिति । भोजनस्यानादरो मा भूदिति सूचयति ।
अथवा एतत्कृते एवाहमपमानित इति प्रतापपराजयानन्तरं ॥ दर्शयितु-
मुत्तरीये बध्नाति ।

स्वापमानमवगच्छन् कथयति—जानामीति । कपटिनः—भोजनकरणे
कैतवं प्रदर्शयतः, अस्य-प्रतापस्य, शिरोऽगदं—शिरोऽगदम्-श्रीपदं,
जानामि—अवगच्छामि । सः—अगदः, मम दण्डो—मद्दण्डः, तस्य तेन वा,
यत्संघुटनं तस्मात्, अस्मद्दीर्गणस्य प्रभूतैः—बहुतरैः, विशिलैः—बाणैः,
द्वित्रैः दिनैः, सेत्स्यति—निष्पन्नो भविष्यति । अथ तीक्ष्णो—निशातः उदग्रः
—उद्भटः यः कृपाणस्तेन कृत्वा—छिन्ना या पृतना—सेना, तथा आस्तीर्ण-

(पुनः दृष्टः सन्)

सिंहः केसरलुञ्जनेन शयितः संबोध्य दुष्क्रोधितो
हस्तैः कुंकृतिघोरविस्तृतफणः कृष्णाहिरुद्धोधितः ।
प्रोद्यत्कोलकदम्बभोषणवपुर्वद्धिः समालिङ्गितो
यन्मेऽकार्षत् तिरस्क्रियामसिपतेभूपांलचूडामणोः ॥ ११ ॥
(पुनः सरोपं सालुम्बादिसमर्चं प्रतापादीन् लक्ष्मीकृत्य प्रतिजानीते ।)
तिष्ठेन्मिथ्या शिरोऽर्तिर्ग्रजति वसुमतीस्वामिसंस्तूयमानो
मानो मानप्रदाता प्रधानरिपुगणस्तूयमानासिधारः ।

आच्छादिता, या क्षमा-पृथिवी, तथा, दारुण-भयंकरं, स्वं विषयं-
स्वकीयं देशं दृष्ट्वा स्वयं शीष्णो गदः मूलतः प्रशमिता । मूलतः शीष्णो
गदस्त्योच्छेदान्न पुनस्तथाभूतो गदो मविष्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥ -

दृष्टः सन् पुनः कथयति—सिंह इति । शयितः-सुप्तः, सिंहः, संबोध्य
केसरलुञ्जनेन-सटाकर्पणेन, दुष्क्रोधितः, एव कुंकृत्या-कुंकारेण, घोरा-
भयंकारी, विस्तृता फणा यस्य सः, एवंविधः कृष्णाहिः कृष्णसर्पः, हस्तै-
रुद्धोधितः, तथा प्रोद्यन्पूर्वं गच्छन् यः कोलकदम्बो-नरालसमूहः, 'वह्नेद-
याज्जालक्रीलौ अर्चिः' इत्यमरः । तेन भोषण वपुःस्वरूपं यस्य सः तयामृतो
वद्धिः समालिङ्गितः । इदं तत्कृतम् । यद् भूपांलाना-राज्ञा चूडामणोः-शिरो-
रानमृतस्य, राज्ञा मध्ये सर्वश्रेष्ठस्य, अखिलतेः-कृपाणस्वामिनः, मत्समर्चं
न कोऽपि कृपाणं धर्तुं प्रभवति । एवंविधस्य मे-मम, यूयं तिरस्क्रियां
निरस्कारमकार्षत् । एतेन सिंहादीनामिव अहमपि शीघ्रमेव युष्माकं हननं
करिष्यामीति व्यज्यते ॥ ११ ॥

अथ प्रतापादीन् लक्ष्मीकृत्य प्रतिजानीते । तिष्ठेदिति । मिथ्या-कृत्रिमा,
शिरोऽर्चनः-शिरोवेदना, तिष्ठेद्-आस्ताम् । वसुमतीस्वामिमिः-भूरतिमिः,
संस्तूयमानः, मानप्रदाता-शत्रूणां मानमर्दकः । दो अवलम्बने पदा दाने
मिश्राणां मानवर्धकः, प्रवने-संप्राप्ते, रिपुगणैः स्तूयमाना अविधारा यस्य
सः । यस्य लङ्गघातं शत्रवोऽपि स्तुवन्ति, स मानो मानसिंहो व्रजति ।
इदमभयंकरं कार्यं संरयते । अथ चन्द्रदोर्दण्डेन-चरलमुग्धदण्डेन, वन्दी-

चन्द्रहोर्दण्डवन्दीकृतनिखिलजगद्भूमिपालासिहारी

मेवाहं ध्वंसयित्वा सकलमपि कुलं यावनं वो विधास्ये ॥१२॥

सालुम्बः—(सरोपम्) सन्निपातरोगिणः किं किं न जल्पन्ति । याहि

याहि यत्ते शक्यं तदाचर । स्वसामर्थ्यं नायशेषयेः ।

भर्तारमादाय पितृष्वसुस्त्वं संग्रामभूमिं समुपाभयेथाः ।

तन्नाशतो वैरविधिः समाप्तो भवेत्सुखी स्यात्सकलोऽपि लोकः ॥१३॥

(मानः अशृण्वन्निव स्वाश्विरं निर्गतः । मन्त्री तत्रैवास्यात् ।)

प्रतापः—रावतकृष्ण ! ज्ञायते मानोऽपमानं मन्यमानोऽभुक्त
एव निर्गतः ।

रावतः—अहमप्येवमेव संभावयामि ।

प्रता०—पश्य, कुमारसहितः सालुम्ब इत एवाभिगच्छति । ततः
सर्वमवगतं भविष्यति ।

कृता ये निखिला जगद्भूमिपालास्तेषाम् असिहारी-सान्निहित्य तेषाम् ,
विहर्ता, अहं मेवाहं ध्वंसयित्वा-नाशयित्वा, सकलमपि-समस्तमपि,
यः-युष्माकं, कुलं यावनं-यवनस्येदं यावनं यवन-संबन्धि यवनमेवेत्यर्थः ।
विधास्ये-करिष्यामि । यत्तत्सर्वं ययं मां तिरस्कुर्वन् अहं युष्मान्
तद्रूपमेव विधास्यामीति स्वशौर्यातिशयो व्यज्यते ॥ १२ ॥

सालुम्बः सकोर्धं तिरस्कुर्वन् कथयति-याहि याहीत्यादि । अथ यवनेन
सार्धं पितृभगिन्याः सम्बन्धस्मारणेन अनादरातिशयं व्यङ्गयन् कथयति-
भर्तारमिति । त्वं पितृष्वसु-पितृभगिन्याः, भर्तारमकबरमादाय-अनुन-
यादिना आनीय, संग्रामभूमिं समुपाभयेथाः-आगच्छेः । तन्नाशतो वैर-
विधिः समाप्तो भवेत् । तदभावाद् युष्माभिः सहापि नास्माकं वैरं भवि-
ष्यति । एवं सति तन्नाशात्सकलोऽपि लोकः सुखी स्यात् । यवनराज्य-
स्याभावादनयोच्छेदेन सर्वोऽपि लोकः सुखी स्यात् । एतेन आर्यपतेः
प्रतापस्य राज्यं सौख्यजनकमिति व्यज्यते ॥ १३ ॥

प्रतापो मानग्रहणमिया पलाय्यमानं सैन्यं प्रदर्शयति-मान इति । मानः
अभिमानं-गर्वं, हित्वा इहात्यन्तानादरेण गर्वनाशात् गर्वमिहैव मुक्त्वा सर्व-

(ततः प्रविशतः कुमारसालुम्बो)

प्रता०—सालुम्ब ! किमसौ मानोऽमुन्त्वैव गतः ।

सालु०—आम् ।

प्रता०—किमसावब्रवीत् ।

सालु०—सन्निपातरोगिणः किं किं ॥ जल्पन्ति ।

प्रता०—तथापि किमसावब्रवीत् ।

सालु०—पद्मपतङ्गुलानुत्तरीये बध्ना “मेवाढं ध्वंसयित्वा सकल-
मपि कुलं यावनं वो विधास्ये” इत्युक्तवान् ।

रावतः—(सक्रोधम्) मेवाढध्वंसकं मन्यमानः कथमसौ न गृहीतः ।

सालु०—अतिथिरिति कृत्वा विमुक्तोऽसौ ।

प्रता०—त्वया पुनः किमुक्तम् ।

सालु०—मया च “स्वकीयपितृष्वसुभर्तारमपि सार्धमानयेः”
इत्युक्तम् ।

रावतः—साधूस्तम्, साधु सालुम्ब ! साधु । वीरोचितमेवोक्तम् ।

प्रता०—पुनः पुनः ।

सालु०—पुनरसौ त्वरितमेव स्वशिविरं निर्गतः ।

प्रता०—पश्य, पश्य, एतत्सेन्यं द्रुततरं प्रयाति ।

मानो हित्वाऽभिमानं व्रजति लघुतरं सर्वसैन्याप्रभागे

हस्त्यश्च पत्तियुक्तं निखिलमपि बलं क्षोभमाणं प्रयाति ।

मन्ये मानापमानात्कुपितमिव चलद् धूलिभिर्धूसराङ्गं

सोमानं लङ्घितुं द्राक् सलिलमिव महायत्नमेतद्विधत्ते ॥१४॥

सैन्याप्रभागे लघुतरं पलायमानो व्रजति । हस्त्यश्चमिति । सेनाङ्गत्वात्

‘द्वन्द्वं प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्’ इत्येकवचनावः । पत्तियुक्तं हस्त्यश्चं निखिलमपि

समस्तमपि, बलं-सैन्यं, क्षोभमाणं-प्राणयुक्तं चत्वरिणम् । अहमिदं मन्ये ।

धूलिभिः-रजोभिः, धूसराणि-ईषत्पाण्डूनि, अद्भुतानि यस्य तत्तथा मानाप-

मानात्कुपितमिव चलत् एतत्सेन्यं सलिलमिव-जलप्रवाह इव द्राक्-शीघ्रं

सोमानं लङ्घितुं महायत्नं विधत्ते । यथा जलप्रवाहः स्थानसंकीर्णतया

सालु०—मन्ये अपमानात्कुपितो मानो वैरायिष्यते ॥

प्रता०—अस्त्वेनत्, इदं तु पूर्वमेव निश्चितमासीत्, यन्मानोऽपमानं मन्यमानो रुष्टो भविष्यति । उदूखले शिरोदाने मुसलात्का भीतिः । युद्धं तु निश्चितमेव । ताडिताशीविपसमो मानो वैरं चरिष्यति । गत्वा सैन्यं दृढीकृत्य क्षिप्रमेवागमिष्यति ॥१५॥

परमिदानीं तज्जये प्रकारो विचारणीयः ।

रावतः—इदानीमेव सैन्यं सज्जीकृत्य आक्रमितव्यम् ।

प्रता०—स चेदानीमतिथिः, तावत्स्वसीम्नि च गमिष्यति । अथापि एतद्विषयेव द्रुततरं तत्सैन्यं प्रयाति, कथमसौ आक्रम्य ग्रहीतुं शक्यो भविष्यति । सर्वान्सामन्तानाहुय परिपदि परामर्शः कर्तव्यः । तावत् इदं भवेत् ।

अस्यामुपत्यकायां तु न कश्चिच्चारयेत्पशून् ।

न गच्छेदिति राजाज्ञा तद्विरादुधुर्वधो भवेत् ॥१६॥

मन्त्रिन् इमां ममाज्ञाद्दोषय । स बहिर्निर्गत्य द्विष्टिमया तदाज्ञामुद्धोष्य पुनरागच्छति ।

सालुग्व ! त्वमपि गच्छ, मन्त्रिन् सायं परिपदि । सर्वानपि सामन्तानाहुयतु ।

इतस्ततोऽपि गच्छति एवमेव मानसंन्यमपयेनापि गच्छति । एतेन सैन्ये भयातिशयो द्योत्यते ॥ १४ ॥

युद्धस्यावश्यंमावितां प्रदर्शयति-ताडितेति । ताडितो य आशी-विपः-विपभरसर्पः, तेन समो मानो वैरं-विद्वेषं चरिष्यति । विपभर-सर्पस्य स्वभाव एवायं यत्ताडितः सन् प्रत्यपकारमवश्यमेव करोति । सर्पसाम्येन अवश्यमेव युद्धं भविष्यतीति निश्चीयते । अथ मानस्योद्योगं दर्शयति । मानः गत्वा-इह स्थानात् गत्वा, सैन्यं दृढीकृत्य-मुसज्जितं विधाय, क्षिप्रमेव आगमिष्यति-आयास्यतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

मन्त्री—यदाज्ञापयति भवान् । (ततो निष्क्रान्ताः सर्वे ।)
इति श्री महामहोपाध्याय-मथुराप्रसाददीक्षितकृते चोर-
प्रतापनाटके तृतीयोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

शुद्धविष्कम्भः

(ततः प्रविशति एकतो जयार्थं शिवमारादधुं गच्छन् गुरु-
पुत्रः, अपरतश्च इन्दौरनरेशः)

इन्दौ०—(दृष्ट्वा प्रणम्य च) गुरो ! जयतु जयतु एकलिङ्गेश्वरः ।

गुरुः—आः इन्दौरनरेशः । शुभं भवतु । कं जेतुं प्रचलितोऽसि

इन्दौ०—मानसिंहः अकवरात्सैन्यमादाय योद्धुं समेप्यतीति तज्ज-
यार्थं परिपत् क्रियते तत्रैव गच्छामि ।

गुरुः—मानसिंहो भूयो यदधेयवनः सन् आर्यान् कुलोन्नानपि
तेन सह सम्बन्धयति ।

इन्दौ०—अथ किम् । अत एव तत्परित्यागः कृत इत्यहं साधु मन्ये ।
परं स्वयं प्रतापेन उपत्यका कुतः शून्येव कारिता ।

गुरुः—इदन्तु स्वरूपमेव दृश्यते, द्वित्रैरेव दिवसैर्वापीकूपतडागा-
विकं कन्दमूललतावृक्षसस्यादिकं च समूलमेव नाशि-
तानि द्रक्ष्यसि ।

इन्दौ०—कुत एवं विधोयते ?

गुरुः—अस्त्यत्र गूढाभिसन्धिः । युमुक्तापिपासाभ्यां तान् हतोत्सा-
हान् विधायाक्रम्य विजेष्यामहे ।

इन्दौ०—साधु साधु । अकवरः प्रतापाय अत्यधिकमोर्ष्यते ।

गुरुः—(विहस्य) प्रतापदर्शकोऽपि प्रतापवशीभूत इव भवति ।

इन्दौ०—अथ किम् । कुतश्चैतदुच्यते ?

गुरुः—श्रूयते कश्चिद् भट्टः अकवरपरिपदि गत्वा तं तथा तिर-
स्कृतवान् येन स मृतप्राय एव संजातः ।

इन्दौ०—कथम् ?

गुरुः—कश्चिद् भट्टः अकबरपरिपदि सपेत्य स्वशिरसि स्थितं
प्रतापदक्षम् उष्णीषमुत्तार्य आदावर्त्येत्यवदत् । तेन पृष्ठः
कथमिममुत्तार्य वन्दसे ? तत्तस्तेनोक्तम् । प्रतापस्यायमु-
ष्णीषो मच्छिरसि । स अनर्थं न वन्दते इत्युक्त्वा
प्रचलितः । ततः सर्वे जहसुः, इति भट्टतिरस्कृतो मृत इव
अकबरः सञ्जातः ।

इन्दी०—(वीर्यं ह ह ह इति जहास) आगतं परिपदः स्थानम्
अहमेव गच्छामि ।

[इति विष्कम्भः]

पटोन्नयनम्

(सर्वेसहितः प्रतापः परामृशति ।)

प्रता०—कथमसावकबरो विजेतव्यः ।

कर्णः—वयं सहस्रयोधिन आगतास्तान् विजेष्यामहे ।

चूडावत्—नहि सर्वे भवादृशाः, असंख्येयसैन्यश्च शत्रुः, तत्रापि
सहस्रयोधिनो बहवो युद्धविशारदारच सन्ति ।

रायतकृष्णः—तत्सैन्यागमने सति अस्माभिः पश्चादाक्रमो विधेयः ।

सालुम्बः—नैतत्संभान्यते, ध्विच्छिन्नपक्षिकास्ते आक्रमिष्यन्ति
भिरुलाधिपतिः—रत्तिन्मि सुअप्पेहिं सेणिएहिं सिबिरन्मि अ-

रात्रो स्वल्पेः सेनिकेः शिबिरे आ-
क्रमिय सन्वे णिहंतव्वा ।

कम्प सर्वे निहन्तव्याः ।

इन्दौरनरेशः—एवं सति नास्माकं शौर्यं देवा विलोकिष्यन्ते ।

चूडा०—एकदा एवं भवेदपि, न पुनः २ । सावधानास्ते भविष्यन्ति ।

अथ प्रतापस्तत्प्रकारं प्रदर्शयति—वन्ध्या इति । वन्ध्याः—येषु कदा
चिदपि फलानि न प्रादुर्भवन्ति, अकम्प्याः—फलदातारः । कश्चिदपि
फलिनः अस्मिन्समये फलयुक्ता अत्र लुब्धाः—लुब्धायाः, दीर्घाः—महोत्तता
विटपिगणाः—वृक्षसमूहाः, शायमाना भवेयुः, समस्तास्ते मूलतः शोधनीयाः
तामाश्रयन्तु । सर्वे गोधूमायन्तं, मूलादि यस्य पत्रं मूलञ्चोभयमपि लाचते,

सालु०—एवं कृते शत्रोर्हानिरधिका भविष्यति । परमेवं विधाने
अस्माकं जयो नैव भविष्यति । अनन्तरं ते आक्रम्य
विजेष्यन्ते ।

प्रता०—मम त्वेवं प्रतिभाति । शत्रुसैनिकानद्रिमध्यगान्विधाय
आक्रमितव्यम् ।

सर्वे युक्तम् ! परं तु केन प्रकारेण ?

प्रता०—सर्वाऽप्युपत्यका अन्नजलफलादिभिः शून्या विधीयते
विहिता च तथाविधा बहुतरा ।

तत्प्रकारश्चायम्—

वन्ध्या वा सन्त्ववन्ध्याः कचिदपि फलिनो ज्ञायमानाः समस्ताः
क्षुद्रा दीर्घा भवेयुः खलु विटपिगणा मूलतः शोधनीयाः ।

सस्यं मूलादिकन्दं मधुकर्मणि लता यत्र कुत्रापि वा स्यु-
स्त्वत्सव नाशनीयं नहि भवतु यतो भक्ष्यलामोरिपूणां ॥ १ ॥

कूपा वाप्यः सरांसि स्वविषयचलिते सत्पथे वाऽपथे वा
यावन्त्येतानि सन्तु कचिदपि च भवेद् वारि वा पत्तलं वा ।

तत्सर्वं नाशयित्वा मरुधरसदृशः सर्वतः स्वो विधेयो
देशोऽस्माभिर्महीध्राद् रिपुहननगतिः पूर्णतश्चापि कार्या ॥ २ ॥

कन्दं शूरणाधिकम्, मधुकर्मणि लता वा यत्र कुत्रापि स्युः तत्सर्वमपि नाश-
नीयम् । समुदायवियक्षया चैकवचनम् । एवं कृते सति फलमाह-यतः
रिपूणां भक्ष्यलामो नहि भवतु । भक्ष्याप्राप्तौ स्वयमेव मृता भविष्यन्ति
पलायिष्यन्ते वा ॥ १ ॥

एवं भक्ष्यालामं प्रदर्श्य जलालामप्रकारं दर्शयति—कूपा इति । स्वस्य
विषयो—देशः, 'नीवृज्जनपदो देशविषयो' इत्यमरः । तत्र चलिते सत्पथे
'स्वतिभ्यामेव' इति नियमात् 'न पूजनाद्' इति समासान्तप्रत्ययस्य न निषेधः,
अपथे—मार्गाद् यद्भिभूते स्थाने, कूपा वाप्यः सरांसि, यावन्ति—यावत्परिमा-
णानि, एतानि कचिद् सन्तु, वारि प्रसृतं पत्तलं पत्तलम् अस्पृजला-

अन्नपानाद्यसंप्राप्तेर्न मां ज्ञास्यन्ति दुर्जनाः ।

आक्रम्य युगपत्सर्वान् हनिष्यामोऽद्रिमध्यगान् ॥ ३ ॥

सर्वे—साधु साधु शोभनोऽयं प्रकारः ।

(उत्थाय सर्वे स्वस्थानं गच्छन्ति)

(अत्रान्तरे राजपुरुषो हस्तेर्बध्वा द्वौ पुरुषौ नयतः ।)

राजपु०—राअण्णाओ पावइ अवहेलणफलं सुयं पुरिसो ।

राजाज्ञायाः प्राप्नोति अवहेलनफलं स्वयं पुरुषः ।

पाणदण्डो ऽस्स विहिओ पसुचारणकए चेव ॥ ४ ॥

प्राणदण्डोऽस्य विहितः पशुचारणकृते एव ॥ ४ ॥

शयस्थानं वा क्वचिद् भवेत् । तत्सर्वं समुदायविवक्षया चैकवचनम्, नाशयित्वा, अस्माभिः-भया भवद्भिश्च । एतेन युष्माभिरपि स्वस्वस्थाने वृक्षजलादिकं नाशयितव्यमिति सूच्यते । स्वः-स्वकीयो देशः, सर्वतः-पूर्णप्रकारेण, मरुधरसदृशो विधेयः, इत्यनेनेदं सूच्यते, तत्र क्वचित्पीलवादिफलादिप्राप्तावपि अस्मद्देशे सर्वथा फलादेः प्राप्तिर्न भविष्यति । तदनन्तरं महीप्रातः-महीप्रे स्थित्वा पूर्यतश्च रिपुहननगतिरपि कर्षा । एवं सति पूर्यतया शत्रुष्वाक्रमणमपि कर्तव्यमित्यर्थः ॥ २ ॥

अथ फलसिद्धिं प्रदर्शयति-अन्नेति । दुर्जना अकथरपक्षपातिनो मानप्रभृतयः अन्नपानादीनामसंप्राप्तेः, अन्नजलालामात् मां न ज्ञास्यन्ति । कुत्र स्थितः प्रतापः, तत्सैनिका वा कुत्र सन्ति, तत्पञ्चा वा कुत्रास्तीति तेषां ज्ञानमेव न भविष्यति । वयं युगपत् आक्रम्य अद्रिमध्यगान्-पर्वतमध्यायातान् । एतेन तेषां पलायने मार्गस्याभावो बोध्यते । सर्वान् हनिष्यामः-नाशयिष्यामः । तेषां नाशे सति अस्माकं जयो भविष्यतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अन्ये एवं मां कापुंरिति राजाज्ञाया अवहेलनफलं भावयति-राजाज्ञेति । पुरुषः स्वयमेव अन्यैः सह वैराद्यभावेऽपि, राजाज्ञावहेलनफलं प्राप्नोति । तत्र राजाज्ञाया अवहेलने स्वल्पफलेऽपि प्राणदण्डो भवतीति दर्शयति । पशुचारणकृते एव-नैतावता राज्ञो हानिर्विहिता, किन्तु अशामङ्ग एवेति कृत्वा अस्थ वृद्धस्य प्राणदण्डो विहितः । तस्मान् यूयं सर्वथा राजाज्ञां पालयतेति सूचितं भवति ॥ ४ ॥

भिल्लपुत्रः—आ ! दारुणा से आणा, पिठणो सूलीदंडो
आः ! दारुणा तस्य आजा । पितुः शूलीदण्डो
विहिओ । कल्ले भइणीभत्तुणो वि सूलीदंडो
विहितः । श्वो भगिनीमत्तुरपि । शूलीदण्डो
हविस्सइ ।
भविष्यति ।

(अन्तर्गृहादानोप धनुः शराश्च सञ्जीवस्य प्रतापं हन्तुं प्रतिजानीते ।)
मि० पुत्रः—भइणीए वेहन्वाओ पुण्वं चेव पदाव्वं हणिरसे ।
भगिन्या वैधव्यात्पूर्वमेव प्रतापं हनिष्यामि ।

मि० भगिनी—भाय ! अम्हाणं सवहो, मा पदाव्वं
आतः । अस्माकं शपथः, मा प्रताप
हण । सो क्खु अम्हाणं अण्णदाअओ राज्जा ।
जहि । स खलु अस्माकम् अग्निदायको राजा ।
सो क्खु ईसरो ।
स खलु ईश्वरः ।

(इति ब्रुवती गृह्णाति)

मि० पुत्रः—मुंचव अम्हे, पदाव्वं हणिरसे ।
मुञ्चतु अस्मान्, प्रतापं हनिष्यामि ।

मि० भगिनी—कम्हा ?
कस्मात् ?

मि० पुत्रः—कहं खु तुए ण सुअं ? पिया सूली कारिओ,
कथं खलु त्वया न भूतम् ? पिता शूली कारितः,
तत्कलेअरं पि ण दावेइ । कल्ले तुह भत्तुणो वि
तत्कलेवरमपि न दापयति । श्वस्तव भत्तुरपि
सूली हविस्सइ ।
शूली भविष्यति ।

मि० भगिनी—कम्हा सूली कारिओ ?
कस्मात् शूली कारितः ?

भि० पुत्रः—मह पिता शिञ्जणं चक्षयाभाञ्चं ददृश अया-
 मम पिता निर्जनमुपत्यकामागं दृष्ट्वा अजा-
 वोओ चारेत्तं गओ । रणणो य आणाय अवहेलणकए
 बोधायितुं गतः । राश्व आशया अवहेलनकृते
 पिउणो सूली दंडो कारिओ, फल्ले तुह भत्तुणो
 पितुः सूली दण्डः कारितः, स्वस्व भद्रः
 सूली दंडो हविस्सइ ।
 सूली दण्डो भविस्सति ।

भि० भगिनी—एवं पि अपरिक्खओ पदावो चिट्ठउ ।
 एवमपि अपरिचतः प्रतारस्तिष्ठउ ।

(इति पादयोः पतति स चावधूप निष्क्रान्तः ।)

धारणः—न स्वर्णाभूषणौ राजा राजा भवति शक्तिमान् ।
 अन्यैरपरिभूताङ्गो राजा लोकैर्निगद्यते ॥ ५ ॥

(इति गायत्रिष्क्रान्तधारणः ।)

(भिक्षुभगिनी उत्प्राप स्थिता सती विनियति ।)

भि० भगिनी—हा पदावो अपरिक्खयंगो होउ । हे अग्निदेव !
 हा प्रतापंऽपरिद्विताङ्गा भवतु । हे अग्निदेव !
 पाणणाहाहिणायञ्चं सअललोअसंधूयमाण-
 प्राणनाभाधिनायक सकललोकसत्पमान-

“राशो हानिर्मेव जाता, इत्यपराधो नैवास्ताति वयदाऽनुचित इति
 प्रजायां प्रवादो न प्रसरेदिति” चारणो गायन् राज औचित्यकारितां भाव-
 यति—न स्वर्णेति । शक्तिमान्—शक्तिसंपन्नो राजा, स्वर्णाभूषणैः राजा न
 भवति—न खलु बहुतरस्वर्णादिभिः स राजा भवति किं तु अन्यैरपरिभूता
 संधंया स्वीकृता आशा यस्य सः, एवमूत एव पुरुषो लोकैः राजा निगद्यते ।
 एवं च तदाशया अवहेलने तस्य राजत्वमेवोन्मिश्रयत इति तदुन्नेदकस्य
 प्राणदण्ड उचित एव जातः ॥ ५ ॥

किञ्चित्मण्डलं सुजसत्योमघवलितदिग्विभागं
 कीर्त्तिमण्डलं स्वयशःस्तोमघवलितदिग्विभागं
 सन्वजणमणोरंजणकरणपक्खाअविहवं सूरिय-
 सर्वजमनोरञ्जनकरणप्रख्यातविमवं सूर्य-
 पदावाओ वि अहियअरं सुसोहरां अम्हाणं
 प्रतापादपि अधिकतर सुयोमनम् अस्माकं
 पदावं अपरिक्खयंगं करेत्त । हा ! भाया गओ
 प्रनामम् अपरिच्छताङ्गं करोतु । हा ! भावा गतः,
 पदावं परिक्खयंगं करिस्सइ ।

प्रतापं परिच्छताङ्गं करिष्यति ।

(इति रुदती सती स्थिता सर्वतोऽवलोक्यते)

(लघुभ्राता विह्वला मगिनी विलोकयति)

ल० भ्रा०—भइणि ! कहं बीहला ?

मार्गान् ! कथं विह्वला ?

(मगिनी भ्रातुः स्वरसंयोगात्किञ्चिदुच्छ्वस्य)

भि० मगि०—हा कुलदेवआओ ! पदावं अपरिक्खयंगं करेह ।

हा कुलदेवताः ! प्रतापमपरिच्छताङ्गं कुरुष ।

ल० भ्रा०—भइणि ! पदावो अपरिक्खयंगो चेव चिट्ठइ ।

मगिनि ! प्रतापः अपरिच्छताङ्ग एव तिष्ठति ।

(भि० मगिनी पुनः प्रबुद्धा सती लघुभ्रातरं विलोकयति)

भि० मगिनी—भाय ! अज्ज तुह भाया पदावं मारेत्तं पडिमुणिये

भ्रातः ! अद्य तव भ्राता प्रतापं मारयितुं प्रतिज्ञाय

रायट्ठमाणं गओ । पदावं रक्खेह, सो क्खु ईसरो ।

राजस्थानं गतः । प्रतापं रक्षय्य, स खलु ईश्वरः ।

भ्रात इति । 'अद्य अद्य तव भ्राता' इत्यारम्य 'अपरिच्छताङ्गो भवतु' इति पर्यन्तेषु प्रत्येकपदेषु विशिष्टस्वरस्यमस्ति, विस्तरमिया न मदरयंते, विद्वद्भिः स्वयमूह्यम् ।

वेद्यमरिआदारखणपरो विविहवजराच्याय-
 वैदिकमर्यादारक्षणपरो विविधव्यस्रनत्याग-
 गहिअमुखिन्वओ अप्पकुलपरंपरागयसत्ततसमा-
 ग्होतमुनिव्रतः आत्मकुलपरंपरागतश्रौतस्मा-
 रत्तकम्मकरणनिउणो शिअपयापालणाधमुत्त-
 र्त्तकर्मकरणनिपुणो निजप्रजापालनविमुक्त-
 सत्त्वसुहो अम्हाणं राया पदावो अपरिक्खयगो
 सर्वसुखः, अस्माकं राजा प्रतापः अपरिद्धताज्जो
 होउ ।

भवतु ।

ल० भ्र० भिल्लः—कम्हा तेण पडिण्णायं ?

कस्मात् तेन प्रतिज्ञातम् ?

भि० भगिनी—तुह पिउणो रणणा सूली वंडो विहिओ ।

तव पितुः राजा शूली दण्डो विहितः ।

ल० भ्रा० भिल्लः—भुयं चेव । सह पिआ तुह भत्ता अ रायाणं
 धुतमेव । मम पिता तव मर्ता च राजाम्
 आणा ओहितिय अयावोओ चारेडं गया ।
 आशामवहेल्य अजावोश्चारयितुं गतो ।
 तेण तेसिं पाणदण्डो विहिओ । गहि वन्हु
 तेन तयोः प्राणदण्डो विहितः । नहि खल्लु
 रणणा अप्पणो कप दासणा आणा किआ ।
 राजा आत्मनः कृते दासणा आज्ञा कृता ।
 किं तु पयाअणारक्खणट्ठं चेव । जओ
 किन्तु प्रजाजनरक्षार्थमेव । यतः
 सुण्णट्ठाणदंसणोण रिक्खणं गाणं चेव ए
 शून्यस्थानदर्शनेन रिपूणां ज्ञानमेव न
 हविस्सइ । कुत्थ पदावो कुत्थ वा तस्स
 भविष्यति । कुथ प्रतापः कुथ वा तस्य

पयाअणो, अओ अम्हे मुहम्मदधम्माओ
 प्रजाजनः, अतोऽस्मान् मुहम्मदधर्माद्
 रक्खितं दारुणा आणा विहिआ ।
 रत्तिदु दारुणा आणा विहिता ।

भि० भगिनी—पदावं रक्ख ।

प्रताप रत्त ।

ल० भ्रा० भिल्ल.—केणोवाएण ।

केनोपायेन ।

भि० भगिनी—अम्हे गंतूण पदावस्स सविहे अहवा
 वय गत्वा प्रतापस्य सविधे अथवा
 पदावदेवीए सविहे कहिस्सामो— पदावो
 प्रतापदेव्याः सविधे कथयिष्यामः— प्रतापः
 अज्ज आहेइत्थं या गच्छउ त्ति अपरिक्खओ
 अद्य आखेटार्थं न गच्छस्विति अपरिद्धतो
 होहिस्सइ ।

भविष्यति ।

ल० भ्रा० भिल्लः—जुत्तम् ।

युत्तम् ।

(इति द्वावपि भ्राताभगिन्यौ गच्छतः)

पटोन्नयनम् ।

(अथ प्रभाते तत्रैव राजद्वारे तादुपस्थितौ । ज्वरान्ता मूर्छितेव भिल्लौ
 प्रलपति पदावं रक्खेह ईसरो सो ।' प्रताप आगत्यावलोकयति ।

प्रताप —केयं ? किमियं कथयति ?

भिल्लः—इमाए भावणा तुम्हं मारेचं पडिण्णाअं ति णिवेचं
 अस्या भ्रात्रा त्वा मारयितु प्रतिज्ञातमिति निवेदयितुम्
 आगया ।

आगता ।

प्रतापः—सौभाग्यवती भव । एवंविधा एव स्त्रियो मम राज्यश्रियः सन्ति ।

मिल्ली—मह भक्तुणो मारेडं पडिण्णाअं कहां सोहग्गवई
मम मर्तारं मारयितुं प्रतिज्ञातम्, कथं सौभाग्यवती
होस्सामि ।
भविष्यामि ।

प्रतापः—

तव कान्तमथापि यो निहन्यात् प्रथमोऽसौ रिपुरस्तु मे रिपूणाम् ।
मयि रक्षति ते प्रियं त्रिलोक्यां नहि कोऽप्यस्ति निपीडितुं समर्थः॥६॥

भि० भगिनी—सो तुम चेव आणाभंगस्स अवरही ।

स तव एव आशामङ्गस्य अपराधी

(ततः प्रविशतो राजपुरुषैर्गृहीतो धनुर्बाणसहितो मिल्लः राजाशब्द-
हेलकस्तस्याः पतिश्च ।)

राजपुरुषः—महाराज ! एय भवन्तं मारयितुं लतायिटपान्तरितो
भूत्वा स्थित आसीत्, भवतश्चरैर्दृष्टः । सूचनानुसारि-
णा मया गृहीतश्च ।

भि० भगिनी—महाराज ! एसो वस्तु मह भाजा, अवरो मे
महाराज ! एय रालु मम भ्राता, अपरो मे
सामी, रक्खेह इमे ।
स्वामी, रक्षयत इमो ।

अथ प्रतापस्तस्याः सौभाग्यवत्त्वे परिपन्थिनमुद्दिश्य कथयति—तचेति ।
अथानि मया सौभाग्यवतीत्वेन प्रतिपन्नायां त्वयि यः कोऽपि तव कान्तं-
पतिं, निहन्यात्—मारयेद् । असौ मे—मम, रिपूणाम्—अन्वयमानसिंहादीनां
मध्ये प्रथमो रिपुरस्तु, सर्वेभ्यः पूर्वमसावेव हन्तव्योऽस्तु । ते—तव प्रियं मयि
रक्षति सति त्रिलोक्यां कोऽपि निपीडितुं विरोधकरणे तदनिष्टसंपादने समर्थो
नास्ति । महाराज इति 'कमचअतदपयवां प्रायो लुक्' इति जकारलोपः ।

प्रतापः—इमौ मुच्येताम् । इयं राज्यलक्ष्मीर्मा वैधव्यं भ्रातृमरण-
दुःखं वा अनुभवतु ।

(राजपुरुषः किञ्चिद् वक्तुमिच्छन् स्थितः ।)

प्रतापः—नास्मिन्विषये किमपि वक्तव्यम् । एवंविधाया एव
राजभक्तप्रजायाः कृते देशरक्षा । अस्याः पितुः शवोऽपि
दीयताम् ।

राजपु०—यथा आज्ञापयति महाराजः ।

पटोन्नयनम्

(इति तौ मुञ्चति, शवं च ददाति । ततः सर्वे निष्क्रामन्ति)

(ततः प्रविशति सिंहासनस्थितस्य अकबरस्य सविधे मानसिंहः)

मानसिंहः—विजयताम् विजयताम् सार्वभौमो महाराजः ।

अकबरः—(निःश्वस्य) सेनापते ! यावदयं प्रतापो न नम्रीक्रियते
तावन्न मे सौख्यं, नापि सार्वभौमता ।

‘श्रवणो यः श्रुतिः’ इत्यस्य वैकल्पिकत्वात्कचिदकार एव । एवम्—भाषा-
भाषा, राया-राया, सोहिअ-सोहिय, अन्धआर-अन्धयार, महिअ-महिय
इत्यादिष्ववगन्तव्यम् । किञ्चिद् वक्तुमिति । असौ भवन्तमेव मारयितुं
प्रवृत्तः स्थितो गृहीत इत्यक्षयापराधोऽसौ निहन्तव्य एव । अपरोऽपि
भवदाज्ञावहेलक इति कथं मुच्यते एषोऽपि हन्तव्य एव । नास्मिन्विषये
इति । सर्वं मयाऽवगत्य विचारपूर्वकमेव कृतमिति नात्र कथनस्यावसरः ।

अथ अकबरसमीपे समागतो मानसिंहः सर्वभूयधिरतिमकबरं मन्य-
मानः कथयति—विजयतां २ सार्वभौम इति । निःश्वस्येति—प्रताप-
प्रभावतः सार्वभौमताया नाशात्सार्वभौमपदभ्रवणतो दुःखोद्रेकात्निःश्वस्य
कथयति—सेनापते इति । अजिते प्रतापे न मम सुखं, सार्वभौमता तु स्वतः
एव नास्ति । तस्मात्किं कर्तव्यमित्याह—यावदिति । यावत्प्रचण्डो-महा-
वीरो, दारुणश्च, प्रतापो—मेवाहाधिपतिः, ज्येष्ठमासिकः संतापश्च, तनति-
स्वप्रभावतः स्वातन्त्र्येण तिष्ठति, धर्मेण खेदं जनयति च । तावदेव-
तावत्पर्यन्तं, शान्तिर्नैवागच्छति । एषः प्रतापः त्वया शरवर्षणेन-शराणां

यतः—यावत्प्रतापस्तपति प्रचण्डो न शान्तिरागच्छति तायदेव ।

त्वयैष शान्त्यः शरवर्षणेन सोष्मागमं पक्वफलं नयेनम् ॥७॥

मान०—आः ! महानयमभिमानो, न बहुकालं स्थास्यति यदयं
मामपि तिरस्कुरुते ।

अकबरः०—किं किम् । 'मानस्याप्यपमानमेव कुरुते' किं
सत्यमेतत् ?

मानः—सत्यमेवेतत् न श्रुतं, किन्त्वनुभूतमेवेतत् ।

अकबरः—आगतं पर्यवसानमस्य, यत् त्वामपि तिरस्कुरुते । को नाम
जगति तव तिरस्कर्ता जीवितुं प्रभवति । स्वयमेवासौ
कुठारेणात्मपादौ छिनत्ति ।

मान०—अथ किम् ! मुनूषोः पिपीलिकायाः पक्षौ समुत्पद्येते ।

अक०ः—सेयं मे निकृतिर्यदेव हतको मत्तुल्यतामिच्छति ।

— त्वामप्येव तिरस्करोति तदिदं धिग्-धिग् घृथा पौरुषम् ॥
किं काश्मीर-कलिङ्ग-वङ्गविजयात् किं बापि शान्त्या जयात्
यावन्नैव जितो भवेद्यमरिर्मेवाडदेशाधिराट् ॥८॥

बाणाणां वर्षणेन, शर इव वर्षणेन वृष्ट्या च, शान्त्यः-शमनीयः, यथा
वृष्ट्या तापः शान्त्यते, एवमेव त्वयैष शमनीयः । तथा त्वं सोष्मागमम्-
ऊष्मागमेन सहितं, पश्चात्तापेन सोच्छ्वासम्, उष्णयुक्तं च । 'उष्ण
ऊष्मागमस्तपः' इत्यमरः । पक्व—चरमावस्थायि फलं दुरदृष्टभोगो यस्य
तम्, अन्यत्र परिणतफलमेतत् प्रतापं नम प्रापयेत्यर्थः ॥ ७ ॥

अयाकबरः किं किमित्यादिना मानसिहमुत्तेजयति । पुनरुत्तेजयन् कथयति-
सेयमिति । सा इयं परामृष्यमाणा प्रत्यक्षतया मया स्वयमनुभूयमाना च
मे मम निकृतिरनादरः, यदेवः मम सोमासविधे विद्यमानो, हतको
मृतप्रायो, दरिद्रो मत्तुल्यतामिच्छति, स्वातन्त्र्येणात्मानं व्यापयति ।
नैतावतैव शान्त्यति किंतु एष त्वामपि तिरस्करोति । अहो इतशश्चयं ।
निष्फलं मज्जीवन् धिक् २ अत्र तुल्यताया इच्छुकस्य तिरस्कारकर्तुश्चे-

चतुर्थोऽङ्कः

मानः—अहमेवं प्रतिजाने ।

जित्वैनं भवतः पदाम्बुजगतं नेष्ट्ये कुटुम्बान्वितं
किं वा व्याकुलितं वनेचरमिव भ्रान्तं विधास्ये क्षणात् ।
यद्वा स्वामवलां सुतां च रुदतीं दृष्ट्वा क्षुधा व्याकुलां
ताम्यन्तं चरणे स्वयं निपतितं सन्धौ नियोक्ष्ये द्रुतम् ॥६॥

अफ०—सर्वं त्वयि संभाव्यते । एवं सति त्वामेवास्य देशस्या-
धिपतिं करिष्यामि ।

मानः—अस्तु । यथा भवद्भ्यो रोचते । श्रुतमेतन्ममागमन-
समनन्तरमेव समस्तामेव मेवाढोर्वरां भुवं विध्वंस्य कुतोऽपि
विनिर्गतः ।

कस्वप्रतिपत्तये विहितस्य एष इत्यस्य न कथितपदस्त्वम् । अथ पुनराह-
काश्मोरकलिङ्गवङ्गदेशानां विजयात् किम्, न किञ्चित्तेषां जयारिसिद्धिः,
अथवा याम्या दक्षिणस्या दिशो जयातिकम्, तत्क्षयेऽपि न सर्वथाऽभि-
मतसिद्धिर्जाता । यावदयमरिर्मेवाङ्गदेशाभिराट् प्रतापो जितो न स्यात्ता-
वत्सर्वं व्यर्थमेव । अजिते तस्मिन्न सार्वभौमता नापि सौख्यमिति
तदाशयः ।

अथ मानस्तं संतोषयन्प्रतापजयाय प्रतिजानीते—जित्वेति । अहं
मानसिंहः, कुटुम्बान्वितं कलत्रादिसहितम् एनं प्रतापं जित्वा भवतः पदे,
नेष्ट्ये—प्रापयिष्यामि । अत्र कुटुम्बपदेन सुतस्यापि ग्रहणम् । किं वा इतस्ततः
अमन्तं विधास्यामि । यद्वा—अमुं दीनमिव व्याकुलितं—व्याकुलचित्तं
वनेचरमिव-गृहमावाद् वननिवासिनमिव भ्रान्तमनवस्थितं क्षणाद् विधास्ये
यद्वा स्वाम् अवलाम्, क्षुधा व्याकुलां रुदतीं सुतां च दृष्ट्वा ताम्यन्तं
व्यर्थमेव मया विरोधः कृत इत्यादि पश्चात्तापं कुर्वन्तं, स्वयं कस्यचिदपि
प्रेरणाया अभ्यासेऽपि चरणे भवत्पदे निपतितम् अमुं सन्धौ—सन्धिकरणे
द्रुतं नियोक्ष्ये, नियोजयिष्यामि । स्वजीवनस्योपायमावेन अगत्या भवच्चरणे
निपत्य स्वयमसौ सन्धिं प्रारयिष्यतीति भावः । अत्र द्वितीयादित्रिभिश्चरणैः
पञ्चमाङ्कगतं वृत्तं चिन्दुरूपेण लिप्यते ॥ ६ ॥

अक०—कातरोऽसौ, भवताऽवश्यमेव विजेतव्यः ।

भवद्भयाद् यो विपिने पलायते

शिलोच्चये वाऽपि निलीयते क्वचित् ।

रणाङ्गरो चापघरस्य कुप्यतः

कथं समक्षं स तवागमिष्यति ॥ १० ॥

मानः—एवमेवैतत् । भवत्प्रतापस्यैवायं प्रभावः । अहमेनं क्षणादेव
ग्रहीष्यामि ।

(मनसि)—कृपाणपाणिं समराङ्गणागतं

विपक्षपक्षक्षयकारकं क्रुधम् ।

नृसिंहशौर्योऽकृतिघारकं तर्कं

क एव धर्तुं प्रभवेद्धरातले ॥ ११ ॥

अकबरः सधै त्वयोत्पादिना मानसिंहं प्रोत्साहयति ।

पुनः प्रतापस्य कातर्यं प्रकटयस्तत्र जये सौकर्यातिशयं दर्शयति-भवदिति ।
यः प्रतापो भवतो मयाद् विपिने घने पलायते । अथवा क्वचिदपि शिलो-
च्चये पर्वते निलीयते । निह्नुत्वं तत्र तिष्ठतीत्यर्थः । सः प्रतापः रणाङ्गरो-
रण्वत्त्वरे, कुप्यतः-क्रोधं कुर्वत, चापघरस्य-धनुर्धारिणस्तव समक्षं कथं-
मागमिष्यति ॥ अत्र पूर्वार्धेन प्रतापस्य कातर्यं निरूप्योत्तरार्धप्रथमपादेन
मानस्य निर्मीकता प्रतिपाद्यते, ततश्च प्रतापस्य कातर्यातिशयित्वं
व्यज्यते ॥ १० ॥

अथ अकबरचाटुक्तिभिः प्रोत्साहितो मानः-अहमेनं क्षणादेव
ग्रहीष्यामीति कथयति । मनसोति । वास्तविकतया प्रतापस्वरूपं विचार-
यन् मनसि चिन्तयति ।

कृपाणेति । कृपाणं पाणौ यस्य स तथा । शस्त्ररहितः कथंचिद् ग्रहीतुं
शक्यते परं तु कृपाणपाणेस्तस्य ग्रहणमसंभवमेव । समराङ्गरो आगतम्,
विपक्षपक्षायाः-शत्रुसहायकानां सैनिकानामित्यर्थः, क्षयस्य-नाशस्य कार-
कम् । तथा क्रुधम्-क्रोधयुक्तम् । नृसिंहस्य साक्षान्नृसिंहावतारधारिणः प्रभो-
र्यञ्छौर्यं तस्याकृतोर्धारकम्, नृसिंहवच्चौर्यशोभायमानं तर्कं तं प्रतापम् ।

(प्रकाशम्) यद्यपि क्षुद्रोऽयं सुखेन जय्यश्च तथापि वनेचर-
सहायकोऽसौ, न जाने कियदस्य वलं भवेदतो महता
धनेन सहाक्रमितव्यम् ।

अरु०—अस्य भ्राता शक्तिसिंहः एतेन विरुध्य इदानीं मम
शरणमेवायातः ।

मानः—यद्यपि शक्तिरहितः सुजयोऽयं तथाऽप्यस्य जये महान्
यत्नः कर्तव्यः ।

अरु०—अवश्यम् परं कैः साधनैरस्योपरि अभियातव्यं, कथं
चेत्यादि विचारयितुं सलीमशक्तिसिंहप्रभृतयः प्रष्टव्याः ।
मन्ये शक्तिसिंहाद् बहुतरभेदस्फोटनं भविष्यति ।

मानः—युक्तमिदम्, परमहंसं संभावयामि शक्तिसिंहः प्रतापमव-
लान्य भ्रातृस्नेहानुबिद्धः स्यात् ।

अरु०—अधुना भेदस्फोटनं तु करिष्यति, तस्य छिद्राणि
कथयिष्यति, प्रतिबन्धं च बोधयिष्यति, येन स सुजयो
भविष्यति ।

मानः—एवं भवतु, न काचिदनुपपत्तिः ।
(ततोऽरुणः घण्टकया दौवारिकमाह्वयति ।)

दौवारिक ! त्वरितं सैनिकसामन्तान् आनय ।

'अव्ययसर्वनाम्नाम्—'इत्यकच् । क एव घरातले-पृथ्वीमण्डले घट्टं
ममवेत् । अत्रोत्तरोत्तरपदेर्मयातिशयो दीव्यते ॥ ११ ॥

तदर्थं चाहं प्रतापं प्रहीतुं शक्य इति निश्चित्य प्रकाशरूपेण महता
धनेनाक्रमितव्यमिति साहाय्यं प्रार्थयते । अरुणः प्रतापजये उपायलामं
प्रापति अस्य भ्रातेत्यादि भ्रातृपदेन सकलतद्रहस्यशङ्कत्वं, विरुध्येत्यनेन
तदोपप्रकाशकत्वं, मम शरणमेवेत्यनेन ममानुकूलकारित्वं बोध्यते ।

भ्रातृस्नेहानुबिद्ध इति । एतेन चतुर्थाङ्कसमाप्तिमार्गं प्रतापशक्ति-
विशयोः स्नेहानं बिन्दुरूपेण प्रतिष्यते ।

दौवा० - जहा आणा (प्रणम्य गतः ।)

मानः—अयते मिल्लराजप्राणदण्डेन सर्वेऽपि मिल्लमीणा
विरुद्धाः संजाताः ।

अक०—नहि-नहि मूर्खास्ते । प्रतापमवलोक्यैव सर्वे तदनुगामिनो
भविष्यन्ति ।

(अथ दौवारिकेण सह सैनिकसामन्ताः प्रविशन्ति)

अक०—दौवारिक ! त्वं स्त्रनियोगमशून्यं कुरुस्व
(इति निष्क्रान्तो दौवारिकः)

अक०—शक्तिसिंह ! प्रतापो विजेतव्यः, एष मानस्याप्यप-
मानं कुरुते ।

शक्ति०—मदान्धोऽयम् । यत् स्थक्रीयानप्यसौ नावलोकयति ।

अक०—तर्हि अम्योपरि अभियातव्यम् ।

समोलः—केन प्रकारेण, कियता बलेन वैत्यत्र भवद्भिः किं
निर्धारितम् ?

अक०—शृणु—

वीराः क्षत्रियवंशजाः कलिकलापारं गता मत्प्रिया

गच्छेयुः पदचारिणः कवचिनस्त्रिशत्सहस्रं रणे ।

तेषां चापि पुरःसरं शरशतं दन्तावलानां कुलं

यायाःकुन्तधरा व्रजेयुरशुतं मध्ये तयोः साविन ॥ १२ ॥

अथ अकवरः स्वसैनिकानां ससया तेषां स्थितिं च प्रदर्शयति-वीरा
इति । क्षत्रियवंशजाः-परंपरागतशुद्धक्षत्रियवंशीत्यन्ना । एतेन तेषामप-
साधनं सूच्यते । कलेयुद्धस्य कलायां पारगताः-युद्धकलाकुशलाः । एतेन
तेषां दक्षत्वं सूच्यते । मत्प्रियाः-मम प्रियाः, अथवा-अहमेव प्रियो येषां
ते । एतेन तेषां मत्प्रियापाततया साभिनिवेशेन युद्धकारिष्वं बोध्यते । कव-
चिनः-परिहितकवचाः, पदचारिणः-पदातयः, त्रिशत्सहस्रं वीराः, रणे-
रंगमैः, गच्छेयुः । तेषां वीराणांमपि पुरःसरमग्रगामि शरशतं दन्तावलानां
इतिनां, कुलं यायात्-गच्छेत् 'दन्ती दन्तावलो हस्ती' इत्यमरः । तयो-

किं च—पार्श्वे पट्टिः सहस्र यवनबलभुवां सैनिकानामुपेया-
 दवेन्तोऽखर्वदर्पा अरववनभवा सचरेयुः सहस्रम् ।
 मान शाहः सलीमः सगरमहवतौ शक्तिसिंहादयस्ते
 सर्वे सैन्याधिपत्य समरसुचतुराः कार्यतः संविदध्युः १३
 प्रहीष्यति प्रतापं यो जीवन्त समरागतम् ।
 तं तोषयिष्ये बहुशो दानमानविभूषणै ॥ १४ ॥

सलीम ! त्वां सैन्याधिपत्ये नियोजयामि । यदि जीवन्नसौ-
 न गृहीयात्, तदैनं हत्वा अस्य सुतं निगृहीया ।

हस्तिपदचारिणो मध्ये अयुत-दशसहस्रस्यका कुन्तधरा, कुन्तधारिण,
 सादिन-अश्वारोहा 'अश्वारोहास्तु सादिन' इत्यमर । ब्रजेयु-
 गच्छेयुः ॥ ११ ॥

पुनरन्या यवनसैनिकाना सत्या प्रदर्शयति-पार्श्वे इति । पार्श्वे-
 तत्सैन्यस्य उभयपार्श्वभाग, यवनबलभुवा-यवनसैन्यतया गृहीताना, यद्वा
 यवनाना वस्त्रेण भूस्त्वित्तिर्येषा ते तेषाम् । इठाद् यवनतामारादिताना
 पट्टि सहस्रम्, उपेयात् । पट्टिसहस्र सत्याका यवनसैनिका गच्छन्त्वित्यर्थ ।
 तथा न खर्व-अखर्व 'खर्वो हस्त्वश्च वामन' इत्यमरः । अखर्वो गर्वो
 येषां ते तथा । अरववने भव उत्पत्तिर्येषां ते-अरवदेशीयवनो यन्नाः ।
 वनभरत्वेन स्नातभ्यात्तेषु पराक्रमातिशया द्यात्यते । सहस्र सहस्रसत्याका
 अयन्त-अश्वा संचरेयु सम्यक् यथावस्थितरीत्या गच्छन्तु । समरसुच
 तुरा-समरचातुर्ययुक्ता, मानो मानसिंह, शाह शाहसलीमसगरसिंह-
 महावतशक्तिसिंहादयस्ते सर्वे, कार्यतः आवश्यककार्यावसरे, सैन्याधिपत्य-
 सैन्ये अधिपतित्व, संविदध्यु सम्यक्प्रकारेण कुर्वन्तु । एतेन सैन्यपलायना-
 वसरे शाहवाजेन कृतोऽङ्कवरागमोद्धोषो बिन्दुरूपेण क्षिप्यते ॥ १३ ॥

अथ प्रतापप्रहणाय प्रलोभनद्वारा सर्वान्सज्जीकरोति-प्रहीष्यतीति ।
 योऽस्मत्सैनिक समरागत-समरप्राप्त जीवन्त प्रताप प्रहीष्यति त दानेन-
 प्राभादीना दानेन, मानेन-उच्चासनाभ्युत्थानादिना, विभूषणेन, वस्त्रा-
 मूषणैः बहुशो-बहुतर तोषयिष्ये-प्रसादयिष्यामीत्यर्थ ॥ १४ ॥

सलीमः—आः ! कोऽयं वराकः—

लीनः पर्यतकन्दरासु विपिने त्रासान्मदीयादसौ

दैवान्मे समरागतो यदि भवेन्नेत्रातिथिः कुत्रचित् ।

क्षिप्रं तर्हि निपात्य तं मुजबलाद् बद्ध्वा भवत्पादयो-

नेष्यामीति समस्तसैन्यपसभासाक्ष्ये प्रतिज्ञायते ॥ १५ ॥

पृथ्वी०—नायं मुजयः, रणविद्याशारदो महाबलिष्ठश्च सः ।

क कोपोत्कटशकचापसदृशभ्रूपङ्गमीमाननं

चञ्चच्चारुकृपाणकृत्तपृतनासृग्बिन्दुकिर्मीरितम् ।

अथ संग्रामे तस्मिन् हते सति तत्सुखमेव निगृह्णीयाः इत्यादिशत्य-
कवरः । अथ सलीमः अकिञ्चित्कर प्रतापं मत्वा कथयति—आः कोऽयं
वराक इति ।

पुनस्तद्वद्गुणं प्रतिजानीते—लीन इति । असौ प्रतापो मदीयात्-
मत्संबन्धिनः त्रासाद्-भयात्, पर्वतानां कन्दरासु विपिने-अरण्ये वा लीनः
अन्तर्हितः यदि दैवादृष्टवशतः समरागतः संग्रामप्राप्तं कुत्रचित्मेवार्थं-
शेदे गजे अश्वे वा कुत्रापि मे-मम नैत्रातिथिः—दृग्योचरो भवेत्तर्हि क्षिप्रं
तं निपात्य मुजबलात्—अन्यनिगेष्यतया स्वकीयभुजबलेन बद्ध्वा भवत्पा-
दयोः—भववरणाविन्दसमीपे नेष्यामि-प्रापयिष्यामि । इति सैन्य पान्ति
रक्षन्तीति सैन्यपाः 'अतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । समस्ता ये
सैन्यपास्तेषां वा सभा तस्याः साक्ष्ये साक्षिताया मया प्रतिज्ञायते । सर्वसं-
नापतीन्साक्षीकृत्य तद्वद्गुणं प्रतिजाने ॥ १५ ॥

अथ पृथ्वीसिंहस्तत्कथनमसहमानः कथयति—रणविद्योत्पादि । रण-
विद्यायां विशारदः । तेन त्वया निपातयितुं नैव शक्यः, महाबलिष्ठश्च
अतो मुजबलेन नैव बद्धुं शक्यः इति सूच्यते ।

कः कोपोत्कटेति । को नाम त्रिसुवनमध्येऽस्ति यः कोपेन उत्कट-
शकचापसदृशो यो भ्रूपङ्गः—ध्रुकुटिमङ्गः तेन मोमं-मयकरम् आननं-मुलं
यस्य सुतम्, तस्य चञ्चलं चञ्चलभ्रूपङ्गमनोहरो यः कृपाणः—सङ्घास्तेन कृत्ता-
हिन्ना या पृतना-विषाक्षिसेना, तस्या असृग्बिन्दुभिः बधिरबिन्दुभिः,

विद्युत्कान्तिसदृक्समस्तसमरे चंचुर्यमाणं भृशं
भीष्मं भीमसमं प्रतापविजयं घर्तुं समर्थो भवेत् ॥१६॥

मानः—संभाव्यते अस्ति प्रतापो वीरः, परमिह तु महावीरा
एव सन्ति ।

पृथो०—अलमुक्तिप्रत्युक्त्या । युष्माकं समरभूमिरेव निर्णायिका
भविष्यति ।

शक्ति०—युक्तम् । तदेव निर्णयस्थानम् ।

अरु०—शक्तिसिंह ! कथय प्रतापसन्निधे कियती सेना,
कीदृशी च वर्तते ।

शक्ति०—अयुतं क्षत्रियास्तत्र खड्गयुद्धविशारदाः ।

बाणविद्यासु निपुणा भिल्लभीणादयः परे ॥ १७ ॥

स्वल्पा अपि पर्वतारोहिणो घानुष्का एते असंख्यमपि
ते सैन्यं समूलं नाशयिष्यन्ति । अतः—

किमिति विप्रवर्णयुक्तम् । तथा विद्युत्कान्तिरिव समस्तसमरे पश्चिमोत्तरा-
दिभागावस्थितसकलसेनाया भृशमत्यन्तं चंचुर्यमाण—कौटिल्येन ब्रजन्त
भीष्मं भयंकरं, यद्वा—स्वप्रतिष्ठापालने साक्षाद् भीष्मस्वरूप भीमसमं भीम-
बन्धुमहाबलशालिनं प्रतापविजयं घर्तुं ग्रीहीतुं समर्थो भवेत्, न कोऽपीत्यर्थः ।
अत्र पूर्वपदेन भयंकररूपवत्त्वं, द्वितीयपदेन शत्रुनाशादिशौर्यकार्यकारित्वं
तृतीयपदेन सर्वव्यापकतया प्रासकारित्वं महापराक्रमशालितया आशु वैरि-
विनाशकारित्वं च, चतुर्थपदेन महाबलिष्ठत्वं स्वप्रतिष्ठानिर्वाहकत्वं च
बोध्यते । एतेन घोरसंकटदशायामपि न स्वातन्त्र्यं त्यज्यति विजयं च
प्राप्स्यतीति बिन्दुरूपेणोपचिह्नं भवति ॥ १६ ॥

अथ शक्तिसिंहः प्रतापस्य सैन्यसंख्यां दर्शयति—अयुतमिति । तत्र
प्रतापसेनाया खड्गयुद्धे विशारदाः प्रमत्ताः, अयुत-दशसहस्रसंख्याकाः
क्षत्रियाः । परे—तदतिरिक्ता, बाणविद्यासु निपुणाः शिबिता भिल्लभीणा-
दयः—भिल्लभीणादिजात्युद्धवाः सन्ति ॥ १७ ॥

शतधन्यो दशसंख्याः स्युस्तुपका द्वे सहस्रके ।

एवं सैन्यसमारोहे जयोऽस्माकं भविष्यति ॥ १८ ॥

पृथिवीसिंहः—(मनसि) आ; ! किमसौ भेदस्फोटनं करोति ।

अकबरः—साधु शक्तिसिंह ! साधु । त्वया सभ्यमार्ग
आदिष्टः । मानसिंह ! त्वयाऽपि सर्वसैन्यसमारोहेण
सहाभिगन्तव्यम् । अहमपि अजमेरस्थितो भूत्वा
सर्वं यथावसरं संपादयिष्ये ।

(इति सर्वे युद्धोद्युक्ता निर्गच्छन्ति ।)

पटोन्नयनम् ।

(इतोऽधित्थकायां स्थितः प्रतापः स्वसामन्तादिभिः परामृशति ।)

(ततः प्रविशति आगरातः समायातश्चारः ।)

चारः—जयतु जयतु महाराजः ।

प्रतापः—कथय यवनाधिराजवृत्तान्तम् ।

चारः—स खलूद्विग्नोऽपि स्वनीतिनैपुण्येनात्मानमनुद्विग्नमिव
प्रकाशयति ।

स इदानीं मानस्यैवापमानं मुहुर्मुहुः सभायां वदति ।

स्वरूपा इति । पवतारहित्वात् धानुष्कत्वाच्च दूरत एव स्वरूपा
अप्येते ते सैन्यं नाशयिष्यन्ति, तेषां नाशोपायस्य तत्र भवत्सर्विधेऽभावात् ।
अथ तन्नाशोपायं बोधयति । अतः—अस्मात्कारणात्तेषां पर्यतारोहित्त्वेन
दूरत एव युद्धकारित्वात् भवदुक्तसेनासंरोहादिदमधिकमस्तु ।

तदेव बोधयति—शतधन्य इति । शतमपि धनन्तीति शतधन्यः 'तोप'
इति लोके प्रसिद्धम् । ता दशसंख्याकाः स्युः । एवं तुपकश्चपिप्रणीतत्वात्तुपका
'बन्दूक' इति लोके प्रसिद्धम् । द्वे सहस्रके—द्विसहस्रसंख्याका भवन्तु । एवं
सैन्यसमारोहे—मुसज्जितसैन्ययात्रायामस्माकं जयो भविष्यति । यद्येवं न
करोषि तदा जयो नैव भविष्यतीति वदशयः ॥ १८ ॥

अथ आगरातः समायातश्चारः अकबरवृत्तान्तं कथयति—स्वच्छौर्यात्
भीतभीतः—अत्यन्तभययुक्तः, संग्रामे अस्मत्पक्षात् अस्मदानीं श्लेच्छराजः
सभायां मुहुर्मुहुः मानस्यैव अपमानं वदति ।

प्रता०—कपटकलाकुलीनो धूर्तोऽसौ ।

चारः—अथैकदा तेन सलीममानसिंहसगरादिप्रधानभट-
नाहूय जीवन्तं भवन्तं ग्रहीतुं बहुतरं प्रलोभनमदायि ।
परं तु सर्वे तच्छ्रुत्वा मौनमेवावस्थिताः । किन्तु सलीम-
मानसिंहो स्वीद्वत्यं प्रकटयन्तौ भवद्भूमलिप्सया
भवन्तं ग्रहीतुं प्रतिजानाते स्म ।

प्रता०—आः ! कोऽयं स्वामिमानशून्यो मानः ।

विक्रीय गौरवमणिं मरणस्य भीत्या

यो म्लेच्छराजमनुगच्छति सेवमानः ।

सोऽयं क्षितिं समभिकाङ्क्षति यत्तदेनं

युद्धे क्षितिं स्वभुजदण्डबलेन नेष्ये ॥ १६ ॥

सालुम्यः—(किञ्चिद्दिश्य) वकोऽपि हंसगतिमृच्छति । यदयं
सलीमोऽपि भवता सह योद्धुमभिकाङ्क्षति ।

अस्य मेदनीतेः कौटिल्यमवगत्य प्रतापः कथयति—कपटकलेत्यादि ।

पुनश्चारः कथयति—क्षितिलिप्सया मानस्त्वां ग्रहीतुं प्रतिजानीते
इति, माननामभ्रयणमाश्रितः कुप्यन्प्रतापः कथयति—आः इति । आः
इत्युपेक्षायाम्, स्वामिमामेन—क्षत्रियत्वार्यत्वाद्यभिमानेन शून्यः कोऽयं
मानः अयं तु सर्वथा उपेक्षणीय एव अकिञ्चित्करश्च ।

विक्रीयेति । यो मानः मरणस्य भीत्या—अकबरविरोधे संग्राममरण-
ममात् गौरवमणि—स्वकीयक्षत्रियत्वादिगौरवरूपं मणिं विक्रीय अकबर-
स्यैव सविषे इत्यर्थः, म्लेच्छराजं—म्लेच्छाधिपतिं सेवमानः सन् अनु-
गच्छति—अनुसरति, म्लेच्छराजत्वेन नीचाधिपतित्वं तस्य सूच्यते । ततश्च
तत्सेवनं तदनुसरणं च महदनुचितमिति मानस्य कातर्येण अनौचित्यका-
रित्वं द्योतयति । सः अयं मानो यद्यस्मात्कारणात्क्षिति—शृण्वीं समभिका-
ङ्क्षति तत्तस्मात्कारणादेनं मानसिंहं युद्धे स्वभुजदण्डबलेन—स्वकीयवा-
हुबलेन क्षितिं नाशं नेष्ये, क्षितिमभिकाङ्क्षतेऽस्मै स्वभुजदण्डेन क्षितिं
दास्यामि ॥ १६ ॥

प्रता०—मुखोऽसौ, न जानाति युद्धभूमिर्वीराणामेवागमनस्थानम्
ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं भवतो यथावस्थितं शौर्यं निरूप्य पृथ्वीसिंहे-
नोक्तम् । युवयोः शौर्यस्य संग्रामभूमिरेव निर्णायिका
भविष्यति ।

प्रता०—साधु साधु । पृथ्वीसिंहेन युक्तमेवोक्तम् ।
ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं लक्षादप्यधिकसुभटसंयुतं हस्त्यश्वशतघ्न्या-
दिसंहितं तत्सैन्यं प्रचलितम् ।

प्रता०—केस्तत्र सेनापतिः ?

चारः—सलीमः ।

प्रता०—बालोऽसौ कथं सेनापतिः कृतः ?

चारः—नाममात्रतोऽसौ सेनापतिः ।

प्रता०—तर्हि मानसिंहः कः ?

चारः—मानसिंहः सर्वस्वमेव । स तु सेनायाः सेनापतेश्च संरक्षकः॥
एतदभियानस्य मानसिंह एव कारणम् ।

प्रता०—इदं तु विदितमेव, परं कथमसौ बालस्याधिपत्यं
स्वीकरोति ? सर्वमपि क्षत्रियवंशगौरवमनेन परित्यक्तम् ।
अस्तु, अथ यवनाधिपतिः कुत्र निवसति ?

चारः—सोऽपि द्वितीयामभिनवसेनां प्रदाय इतः किञ्चद् दूरे
अजमेरपत्तने स्थितः । तदागमनानन्तरमेवाहमिहा-
यातः । मन्ये पञ्चपैरेव दिनैः प्रथमं तत्सैन्यमिहागमि-
ष्यति । अतः परं भवन्तः प्रमाणम् ।

अकरसेन्यागमनश्रवणसमनन्तरमेव प्रतापमटानां कृत्यं दर्शयति—
अहमिति । विक्रमेण—पराजयेण उद्धटाः—महानराक्रमशालिनः सोत्साहाः—
परमोत्साहयुक्ताः सर्वे पत्त्यश्ववारधानुष्कादयः अहंपूर्विकया पूर्वमहं गमि-
ष्यामि, नहि नहि त्वं तिष्ठ पूर्वमहमाक्रमिष्यामि इत्यहंपूर्विकया अहं पूर्व-

(अथ प्रतापसहायका रणोद्धटा गर्जन्ति । अहंपूर्विकया स्वस्वकर-
वालमादाय क्षुब्धयन्ति ।)

अहंपूर्विकया सर्वे सोत्साहा विक्रमोद्धटाः ।

शैलस्थिताः प्रतीक्षन्ते शत्रोरागमनं मुहुः ॥ २० ॥

प्रता०—सेनापते ! अत्रेदं युज्यते, वयं सर्वे सैनिकाः कोमल-
मीरपर्वतस्याधित्यकायां स्थिताः सन्तः शत्रोरागमनं
प्रतीक्षेमहि । इह हि शत्रोराक्रमणं सहसा नैव संभाव्यते ।

यतः—अन्तः प्रवेष्टुं सरणिर्लपिष्ठा

यया चरन्तोऽरिभटाः क्रमेण ।

महोपलानामतिवर्षणेन

शरव्रजैर्नाशयितुं च शक्याः ॥ २१ ॥

सर्वे—मुयोग्यमिदं स्थानमस्मद्रणभूमे ।

(इति हल्दी घाटातटे गन्तुं सर्वे परिक्लामन्ति ।)

पटोन्नयनम्

(इतोऽजमेरवत्तने स्थितः समरवृत्तान्तपरिज्ञानाय समुद्दिग्धमना

अकबरश्चिन्तयति ।)

महं पूर्वमित्यहंपूर्विका स्त्रियाम्' इत्यमरः । मुहुर्वारं वारं शत्रोरागमनं
प्रतीक्षन्ते ॥ २० ॥

अथ प्रतापो हल्दीघाटीतटमभिलक्ष्य सेनापतिं कथयति, इह हि शत्रो-
राक्रमणं नैव संभाव्यते । तदेव दर्शयति—अन्त इति । अन्तः प्रवेष्टुम्
अनन्तरागन्तुं सरणिः पदतिलपिष्ठा-अतिस्वल्पा, यया सरणा चरन्तो
गच्छन्तोऽरिभटाः क्रमेण आगमनक्रमेण महोपलानां वृद्धपाणानामति-
वर्षणेन तेषामुपरि सहसा अविरतनिपातनेन शरव्रजैर्बाणसमूहैः सर्वेषां
पानुष्काणां सामूहिकतया बाणनिपातनेन नाशयितुं शक्याः । एवं प्रकारेण
सर्वे घातिता मविध्यन्तीति भावः ॥ २१ ॥

अथाकबरः 'स्नेहः खलु पापशङ्कीति समरवृत्तान्तस्यापरिज्ञानान्मान-
सलीमयोरनिष्टमुद्भावयंस्तर्कयति—मानः इति । अतिमयात् स्त्रियमाणं

अक०—(मनसि) कथमद्यापि समरभूमेर्न कोऽपि समायातः । आः !
परमपराक्रमशालिनो मेधाढीयाः, तेषु प्रतापस्त्विति वि-
क्रमशाली । तत्र

मानोऽनेन निपातितः किमभवत्किं वा सलीमो हतो
दुर्धोरस्य जये कथं सुतमहं सैन्याधिपत्ये व्यधाम् ।
हा अह्लाः ! स परावृत्तो यदि भवेत् दिष्ट्या रणादक्षतः
सत्यं तर्हि शपामि नैव समरे तं प्रेषयिष्ये पुनः ॥ २२ ॥

कथं विभ्रान्तमनसा नियुक्तः स्वसुतो मया ।
हनने ग्रहणे तस्य विडालस्य यथोन्दुरुः ॥ २३ ॥
(ततः प्रवशति दोवारिकः ।)

दीवा०—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रतापं प्रत्यक्षमिव मन्यमान इदं शब्देन कथयति । अनेन प्रतापेन किं
मानो निपातितो मारितोऽभयत्, किं वा सलीमो हतः । दुष्टा धीरस्य सः,
दुर्बुद्धिरहम् अस्य प्रतापस्य, यद्वा—दुर्धोरस्य प्रतापस्य जये सुतं सलीमं
सैन्याधिपत्ये कथं व्यधाम् । सैन्याधिपतौ हते सति सर्वे स्वयमेव हता
भयन्तीति सैन्यपतिमेव प्रथमं सर्वे हिंसन्तीति तदुत्तापः । अतः—आत्मनो
लाः दाता गृहीता चेति अह्लाः । ला आदाने दाने च निवृप्-
प्रत्ययः । हा अह्लाः । हा इति खेदे, हे कल्याणकारिन् ! अह्लाः पर-
मेश्वर ! यदि सः मम पुनः दिष्ट्या—ममैव शुभप्रारब्धोदयाद् रणात्सं-
ग्रामाद् अक्षतः—त्रणरहितः परावृत्तो भवेत्, तर्हि सत्यं शपामि—सत्यं यथा
स्वात्तया शपथं करोमि यद्वा,—सत्यमेव शपामि । सत्यस्यैव शपथं करोमि,
पुनः अतः परं कदाचिदपि तं सुतं समरे संग्रामे नैव प्रेषयिष्ये ॥ २२ ॥

पुनरुद्दिग्धः सन् कथयति—कथमिति । विभ्रान्तं मनो यस्य सः
तेन । ज्ञानशून्येन मया विडालस्य उन्दुर्यया, विडालस्य हनने ग्रहणे
मूक इव तस्य प्रतापस्य हनने ग्रहणे स्वसुतः कथं नियुक्तः । प्रतापस्य
विडालसदृशतया स्वसुतस्य मूकतुल्यत्वेन कथनात्प्रतापसमर्थं गमनान-
न्तरमेव स हतो भविष्यतीति चिन्तातिशयो चोच्यते ॥ २३ ॥

(अकवरोऽन्यमनस्कतया विलोक्यन्नेव स्थितः ।)

दौवा०—महाराज ! समरभूमिओ जुग्मवृत्तंतवाहओ दुआरि
महाराज ! समरभूम्या युद्धवृत्तान्तवाहको द्वारि
चिट्ठइ ।

तिष्ठति ।

अक०—प्रवेशाय ।

(ततः प्रविशति दौवारिकेण सह चारः)

चारः—(सहसोपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—कथय, सलीमोऽपरिचितस्तिष्ठति ?

चारः—भवतां पुण्यकर्मप्रभावतोऽपरिचित एवासी ।

अक०—सैन्यगमनमारभ्य निःशेषं वृत्तान्तं कथय ।

चारः—सलीमसैन्याधिपत्ये प्रचलितं त्वदीयं सैन्यं कोमलमीर-
पर्वतोपत्यकामधिजगाम । तत्र स्थित्वा शत्रोरासार-
प्रसारावचारीत्सीत् ।

अक०—ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं शत्रवो रात्री आक्रम्य बहून्सैनिकान् हत्वा
स्वायसामग्न्यो विलुण्ठ्य न जाने केन मार्गेण पलायन्त ।
तदनन्तरमुदयपुरं गन्तुं संकीर्णेन पर्वतमार्गेण कति-
चित्सैनिका अन्तः प्रविष्टाः परं न ते परावृत्ताः किन्तु
तत्रैवावरुध्य सर्वेऽपि विनाशिताः ।

अक०—ततस्ततः—

अन्यमनस्कतयेति । स्वमुत्तस्यानिष्टसंभावनया शोकाकुलतया
चिन्तनादन्यमनस्कता । अपरिचित इति । सकलवृत्तान्ततः पूर्वं सलीमस्य
कल्याणं पृच्छति । न परिचितः अपरिचितः । सलीमो ब्रूयितस्तु न जात
इत्यर्थः ।

चारः—तदनन्तरं पुनरपि अन्ये प्रेषिताः, तेऽपि तथैवावरुध्यं
विनाशिताः । यदा नैकोऽपि तेभ्यः परावृत्तस्तदा
सर्वेऽपि ससैनिका मानप्रभृतयस्तदन्तः प्रविष्टाः । ते
यथाकथंचित्संकोर्णमार्गाग्निःसृत्य हल्दीघाटीचत्वरे
उपागता आसन् ।

अक०—ततस्ततः—

चारः—ततः प्रतापाज्ञासमनन्तरमेव—

मन्नाषालुम्यकाद्याः समरसुचतुरा लब्धभूरिप्रतिष्ठा

युद्धोद्युक्ताः ससैन्या अहमहमिकया चवेडयन्तः समन्तात् ।

युष्मत्सैन्यं गलीतुं क्षणमपि बहुशो मन्यमानाः समस्ताः

स्वं खड्गं भ्रामयन्तो विपुलतरभटा वाहिनीं ते निजघ्नुः ॥२४॥

इति सदसैव तेस्ते बहुतरा सेना विनाशिता ।

पर्वतप्रान्ताच्च—

बाणाः पद्मगभाः फणाकृतियुताः फुंकारशब्दाकुलाः

कायस्पर्शनमात्रजीवहरणप्राप्तप्रतिष्ठा दृढाः

अथ चारः प्रतापाज्ञासमनन्तरं तसैनिकानां कार्यं वर्णयति—मन्नेति ।

समरेषु सुचतुराः—संग्रामकलाशातारः, लब्धा भूरि प्रतिष्ठा दैस्ते-विजि-
तविविधसंग्रामाः, युद्धोद्युक्ताः—युद्धसंनदाः ससैन्याः—स्वरससेनासहिताः ।
एतेन तेषां सामन्तत्वं सूच्यते । अहमहमिकया समन्तात्वेडयन्तः, अह-
मेव पूर्वं गमिष्यामि अहमेव पूर्वं गमिष्यामि इत्यादिवचनैः सर्वतो
गर्जन्तः युष्मत्सैन्यं गलीतुं—युष्मत्सेनायां निगच्छं कर्तुं, क्षणमपि बहुशो
मन्यमानाः—क्षणात्रमपि विलम्बमसहमानाः समस्ताः सर्वेऽपि मन्नाषालु-
म्यकाद्याः—मन्नाषालुम्यादिनामानः, स्वं खड्गं भ्रामयन्तः सन्तः, विपुल-
तरा भटा यस्यां सा तयामूतां ते तव वाहिनीं—सेनां निजघ्नुः—निहतवन्तः ।
विपुलतरभटत्वेन शौर्यशालिनीत्वं तस्याः सूच्यते, तद्दहनने च प्रतापसैनि-
कानामतिशौर्यशालित्वं व्यज्यते ॥ २४ ॥

जिह्वामुत्तविषा महाभयकराः दीर्घा मरुद्गामिनः

क्षिप्रं त्वत्सुभटान् रणाङ्गणगताञ्जघ्नुः सहस्रं ततः ॥२५॥

अरु०—ततस्ततः—

चार—ततो याणनिपतनसमनन्तरमेव सेनापतेराज्ञया त्वदीय-
सेनातश्च

आसन्नरूपमहामहाधनघटाघोरायमाणस्वना

निर्मर्यादसमुद्रभीमनिनदप्रोत्तुङ्गधांकारिकाः ।

द्यावाभूमितमिस्त्रनोलवसनप्रस्तारिका विश्वतो

वर्षन्त्यो गुलिकास्ततः प्रचालिताः सर्वाः शतघ्न्यः परा ॥२६॥

अथ बाणवर्णनमाह—बाणा इति । ततस्तदनन्तरं पक्षगाः—सर्वास्त-
द्वा माः कान्तियेषां ते, कृष्णवर्णाः सर्पा विषधरा भवन्ति, लौहनिर्मितत्वात्
बाणा अपि श्यामवर्णा भवन्ति । तथा पण्यकृतियुताः—फणाकारयुक्ताः
चुराकारार्धचन्द्राकाराणां बाणानां तथात्वात् । फुकारशब्देन आकुला
प्यासाः पक्षयुक्तत्वेन फुकारशब्दयुक्ताः, तथा कायस्पर्शनमात्रेण जीवहरणे
मारणे प्राप्ता प्रतिष्ठा येषां ते तथा महाविषधरत्वात्, महाविषे विष्मापित-
त्वाच्च । दन्ताः युवावस्थामारुन्नाः उत्तमधानुष्कप्रेरितत्वात्कार्यकरणसमर्थाः ।
जिह्वा मुक्त विष यैस्ते, सर्पः जिह्वाया अवस्थितघटिकया विष
त्यजति, अन्यत्र—जिह्वा अग्रभागेन मुक्तं विष यैस्ते, तथा महाभयस्य कराः—
अत्यन्तमयारहाः, दीर्घाः—दीर्घाकाराः, मरुदिव गन्तुं शील येषां ते तथा
शीघ्रगामिनः बाणाः रणाङ्गणगतान्—संग्रामचलरुपान्तांसहस्रं एवसुभ-
टान् त्वदीयोत्तममटान् जघ्नुः—हतवन्तः । अत्र विषधरसर्पैः सह बाणानां
साधारणघर्मत्वप्रतिषादनाद् यथा विषधरसर्पदष्टा जीवा हता एव भवन्ति,
एव बाणनिहतास्तदीयमटा मृता एव अभवन्निति व्यज्यते ॥ २५ ॥

अथ त्वदीयसेनापतेराज्ञया प्रचालिताः शतघ्नीः प्रदर्शयति—आसन्नि-
ति । ततस्तदनन्तर कल्पे—प्रलयसमये या महामहाधनघटा—अतिमहामेघ-
घटास्तद्द्वद् घोरायमाणः स्वनो यासा तास्तथा, निर्मर्यादो—मर्यादारहितो यः
समुद्रस्तस्य भीमनिनदस्तद्द्वत्प्रोत्तुङ्गधाकारिकाः तत्सहशमत्तिमुन्नतं धाम्

अक०—ततस्ततः—

चारः—ततः क्षणमात्रेण समयतः सेनायां बहवो भटा निपतिता
आसन् । एतदवलोक्य प्रतापः क्रोधारक्तनयनस्त्वत्सैन्ये
प्रविवेश । तत्र—

हस्ते खड्गं दधानश्चरति किमु यमो वीरसंधं विचिन्वन्
मृत्युर्वा कायधारी गिरति तव भटान् यं विलोक्यान्वमंस्त ।
सैन्यं ते दारयन्सोऽविशदतुलघनव्यूहमध्ये प्रतापो
गच्छन्निच्छेद सर्वं कृपक इव महावीरसंधं क्षणेन ॥७॥
खड्गाखड्गि ततश्चासीदुभयोः सैन्ययोर्महत् ।
कुन्ताकुन्त्यरवचारेषु दारुणं सांपरायिकम् ॥ २८ ॥

इति शब्दं कुर्वत्यः, चाशामुभयोर्मध्ये अन्तराले तमिस्त्रमेव नीलवसनं तस्य
प्रस्तारिकाः । अतिशयितधूमप्रसरेण नीलवसनस्य प्रस्तारणमारोप्यते ।
विश्रुतः सर्वतो गुलिका वर्षन्त्यः—अविरलभावेन अनारतं क्षिपन्त्यः, पराः—
दृक्कुशाः, सर्वाः शतध्वजः प्रचलिता आसन् । युगपत्सर्वशतध्वजां प्रचल-
नाद् बहवः प्रतापधैनिका निपतिता मृताश्चावन्निवृत्तयः ॥ २६ ॥

यदा उभयसेनायां बहवो भटा निपतिता आसन्स्तदा क्रुद्धः प्रतापस्त्व-
सेनायां प्रविवेश, इति तत्कृत्यं दर्शयति—हस्ते इति । हस्ते खड्गं
दधानो वीरसंधं विचिन्वन् वीरसमुदायमेव मारयन् यमो यमराजः किमु
चरति । वा—अथवा, कायधारी गृहीतशरीरो मृत्युस्त्वव भटान् गिरति, तव
भटानां निगच्छं करोति । क्षणमात्रतस्तव भटानां मरणेन तत्रादर्शनाक्षि-
गणं संभाव्यते इति यं प्रतापं विलोक्य लोकोऽन्वमंस्त अनुमिनोति स्म ।
अथ सः प्रतापस्ते सैन्यं दारयन्सन् अतुलघनव्यूहमध्ये सान्द्रसेनासंनिवेशे,
अविशत्—प्रविवेश । तत्र गच्छन्सन् क्षणेन क्षणमात्रतः सर्वं महावीरसंधं
कृपक इव निच्छेद । यथा कृपकः सर्वं सत्यादिकं क्षणेन क्षिनत्ति तथैव
प्रतापोऽपि महावीरसंधं निच्छेद । महावीरानमारयदित्यर्थः ॥ २७ ॥

अथोभयसैनिकयोः कीदृग्गुदममूदिति दर्शयति—ततस्तदनन्तरमुभयोः
सैन्ययोः खड्गाखड्गि—खड्गैश्च खड्गैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तामिति

अङ्कः—ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं कस्यचित्प्रतापभटस्य कवन्धस्य महदाश्र-
यंकरं किमपि शौर्यं व्यलोकितम् ।

पृथा सङ्गं कवन्धः क्षतजशवलितो व्यूहमध्ये प्रविष्टो
नृत्यन्मिन्दन् प्रघावश्चपलतरमसि चालयन्सर्वतो द्राक् ।
शौर्यं लङ्घोदरं वाऽच्छिन्नदखिलगरेः सैन्यचक्रं समन्तराद्
विद्रान्येवं स वीरस्तव विपुलचलस्यैकसंहारकोऽभूत् ॥ २६ ॥

सङ्गावद्गति, तथा अश्वचारेण कुन्ताकुन्ति-कुन्तैश्च कुन्तैश्च प्रहृत्यैर्द-
दुद द्रुतमिति कुन्ताकुन्ति, महत् दारुणं मयंकरं साररापिकं युद्धमा-
सीत् ॥ २८ ॥

अथ चारः प्रतापसैनिकस्य कवन्धस्य कृत्यं दर्शयति—धृत्वेति । क्षत-
जेन—कविरेश, शवलितः चित्रवर्णोपितः, कवन्धः—शिरोरहितो देहः, सङ्गं
पृथा व्यूहमध्ये—स्वदीपसेनासमूहे प्रविष्टः, तत्र नृत्यन्—कवन्धस्वभाव-
एवैषः पदसो यावन्न निपतति तावन्तत्पत्येव । मिन्दन्—स्वदीपमटाप्राश-
यन्, प्रघावन्—द्रुततरगतिवात् घावन्निव प्रतिपाति । सर्वतरचतुर्षु दिक्षु,
द्राक्—सपरि, चपलतरमतिचञ्चल, यद्वा—चपलतरं यथा स्याच्च या अक्षि-
चालयन्, प्रचलतरक्रोधावेशशौर्यमुद्रेकात्प्रकुपितो वायुस्तथा कार्यतीति
कवन्धस्वभावः । स च कवन्धमिन्दन् स्वकीयशिरसश्चक्षुषाऽवलोकयन्
कार्यं करोतीति दर्शयति । अरेः—शत्रोरेव न तु स्वकीयस्यापि शौर्य-
मस्तत् तथा लङ्घोदरं—जङ्घा च उदरं च । प्रायश्चित्त्वादेकपद्मावः ।
अच्छिन्नत् । अखिलमिति क्रियाविशेषणम् । अखिलं समस्तं यथा स्यात्-
वाऽच्छिन्नत्—प्रचलतर—वायुप्रवेगामिषातात्तवाऽच्छिन्नत् यथा द्विधैवामव-
दित्येव स वीरः कवन्धः समन्तात्सैन्यचक्रं विद्रावय—हतस्ततः कृत्वा, तत्र
विपुलचलस्य एकोऽद्वितीयः संहारकः—संहारकर्ताऽभूत् । बहुतरसेनाविना-
शस्तेन विहितोऽभूदित्यर्थः ॥ २६ ॥

अपि बहवस्तदीयमटास्त्वदीयसेनां नाशितवन्त इति दर्शयति—
शब्देकः प्रथमः कवन्धो न निपतति तावदन्यतः अन्य-

अक०—ततस्ततः—

चारः—ततः क्षणमात्रेण उभयतः सेनायां बहवो भटा निपतिता
आसन् । एतदवलोक्य प्रताप क्रोधारक्तनयनस्त्वत्सैन्ये
प्रविवेश । तत्र—

हस्ते रङ्गं दधानश्चरति किमु यमो वीरसंघं विचिन्वन्
मृत्युर्वा कायधारी गिरति तव भटान् यं विलोक्यान्वमस्त ।
सैन्यं ते दारयन्सोऽविशदतुलघनव्यूहमध्ये प्रतापो
गच्छंश्चिच्छेद सर्वं कृपक इव महावीरसंघं क्षणेन ॥२७॥
खड्गाग्रज्झि ततश्चासीदुभयोः सैन्ययोर्महत् ।
कुन्ताकुन्त्यश्वधारेषु दारुणं सांपरायिकम् ॥ २८ ॥

इति शब्द कुर्वन्त्यः, चायामुभयोर्मध्ये अन्तराले तमिक्षमेव नीलवसन तस्य
प्रस्तारिका । अतिशयितधूमप्रसरेण नीलवसनस्य प्रस्तारणमारोप्यते ।
विश्यत सर्वतो गुलिका वपनस्य—अविरलभावेन अनारत क्षिपन्त्यः, परा—
उत्कृष्टाः, सर्वा शतध्न्यः प्रचलिता आसन् । युगपत्सर्वशतध्नीना प्रचल-
नाद् बहव प्रतापसेनिका निपतिता मृताश्चावन्निस्पर्यः ॥ २६ ॥

यदा उभयसेनायां बहवो भटा निपतिता आसस्तदा क्रुद्धः प्रतापस्त्व-
त्सेनायां प्रविवेश, इति उत्कृत्य दर्शयति—हस्ते इति । हस्ते रङ्ग
दधानो वीरसंघं विचिन्वन् वीरसमुदायमेव मारयन् यमो यमराज किमु
चरति । वा—अथवा, कायधारी गृहीतशरीरो मृत्युस्तव भटान् गिरति, तव
भटानां निगरणं करोति । क्षणमात्रतस्तत्र भटानां मरणेन तत्रादर्शनानि-
गरणं समाप्यते इति यं प्रतापं विलोक्य लोकोऽन्वमस्त अनुमिनोति स्म ।
अथ स प्रतापरते सैन्यं दारयन्सन् अतुलघनव्यूहमध्ये सान्द्रसेनासंनिवेशे,
अविशत्—प्रविवेश । तत्र गच्छन्सन् क्षणेन क्षणमात्रतः सर्वं महावीरसंघं
कृपक इव चिच्छेद । यथा कृपकः सर्वं सस्यादिकं क्षणेन क्षिण्ति तथैव
प्रतापोऽपि महावीरसंघं चिच्छेद । महावीरानमारयदित्यर्थः ॥ २७ ॥

अयोभयसेनिकयोः कीदृग्युद्धमभूदिति दर्शयति—ततस्तदनन्तरमुभयो
सैन्ययोः खड्गाखड्गि—खड्गेश्च खड्गेश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तामिति

अक०—ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं कस्यचित्प्रतापभटस्य कबन्धस्य महदाश्च-
येकरं किमपि शीर्यं व्यलोकि ।

धृत्वा खड्गं कबन्धः क्षतजशवलितो व्यूहमध्ये प्रविष्टो
नृत्यन्भिन्दन् प्रधावंश्चपलतरमसि चालयन्सर्वतो द्राक् ।

शीर्षं जहोदरं चाऽच्छिनदखिलमरेः सैन्यचक्रं समन्तराद्
विद्राव्यैवं स वीरस्तव विपुलबलस्यैकसंहारकोऽभूत् ॥ २६ ॥

खड्गाखड्गि, तथा अश्ववारेषु कुन्ताकुन्ति-कुन्तैश्च कुन्तैश्च प्रहृत्येदं
युद्धं प्रवृत्तमिति कुन्ताकुन्ति, महत् दारुणं मर्यकरं साररायिकं युद्धमा-
सीत् ॥ २८ ॥

अथ चारः प्रतापसैनिकस्य कबन्धस्य कृत्यं दर्शयति-धृत्वेति । क्षत-
जेन-रुधिरैश्च, शवलितः-चित्रवर्णोपेतः, कबन्धः-शिरोरहितो देहः, खड्गं
धृत्वा व्यूहमध्ये-स्वदीयसेनासमूहे प्रविष्टः, तत्र नृत्यन्-कबन्धस्वभाव
एवैषः यदसौ यावन्न निपतति तावन्नृत्यत्येव । भिन्दन्-स्वदीयभटान्नाश-
यन्, प्रधावन्-द्रुततरगतिस्वात् धावन्निद प्रतिभाति । सर्वतश्चतुषु दिक्षु,
द्राक्-सपदि, चपलतरमतिचञ्चलं, यद्वा-चपलतरं यथा स्यात्तथा अवि
चालयन्, प्रबलतरक्रोधावेशशौर्यसमुद्रेकात्प्रकुपितो वायुस्तथा कारयतीति
कबन्धस्वभावः । स च कबन्धश्छिन्दन् स्वकीयशिरसश्चक्षुषाऽवलोकयन्
कार्यं करोतीति दर्शयति । अरेः-शत्रोरेव न तु स्वकीयस्यापि शीर्षं-
मस्तकं तथा जहोदरं-जङ्घा च उदरं च । प्राणयज्ञत्वादेकवद्भावः ।
अच्छिनत् । अखिलमिति क्रियाविशेषणम् । अखिलं समस्तं यथा स्यात्ता-
याऽच्छिनत्-प्रबलतर-वायुप्रवेगामिघातात्तथाऽच्छिनत् यथा द्विघैवामव-
दित्येव स वीरः कबन्धः समन्तात्सैन्यचक्रं विद्राव्य-इतस्ततः कृत्वा, तव
विपुलबलस्य एकोऽद्वितीयः संहारकः-संहारकर्ताऽभूत् । बहुतरसेनाविना-
शस्तेन विहितोऽभूदित्यर्थः ॥ २६ ॥

मृता अपि बहवस्तदीयभटास्त्वदीयसेनां नाशितवन्त इति दर्शयति-
न यावदिति । यावदेकः प्रथमः कबन्धो न निपतति तावदन्यतः अन्य-

न यावन्निपतत्येकः कबन्धस्तावदन्यतः ।

उत्थाय तव सेनायां प्रविश्याहन्सहस्रशः ॥ ३० ॥

अक०—महदेव तत्सैनिकानां शौर्यम् । शौर्यसमुद्रेकादेव
कबन्ध उत्तिष्ठति । बाढमियं मेवाढभूमिर्वीरप्रसविनी ।
ततस्ततः—

चारः—तदन्तरा प्रतापः स्वकीयं चेतकमश्वमितस्ततो
भ्रामयम् कमपि मृगयमाण इवासीत् । स च यत्रैवायाति,
तत्रैव ग्रस्ता इव भवद्दीया भटाः पलायमाना आसन् ।
तान्प्रलोक्य प्रताप एवमवादीत्—

क्षुद्रास्त्रासं जहीत द्विपरदनभिदो मामकोऽसौ कृपाणो
युष्मद्देहेषु लज्जां चरति निपतने मा पलायध्वमस्मात् ।
शक्ते ! त्वं तिष्ठ तावन्न खलु मम रूपो भाजनं चासि, किन्तु
क्षत्रज्ञातिं द्विपन्तं मलिनहृदमहं मानमन्वेपयामि ॥ ३१ ॥

अक०—तदानीमसौ मानः कुत्रासीत् ?

हमात्स्यानादुत्थाय ततोऽपर उत्थायेत्यर्थः, तव सेनायां प्रविश्य सहस्रशः
अहन् । अहन्निति हन्धातोर्लङि रूपम्, श्रवणोदित्यर्थः ॥ ३० ॥

अथ चारः प्रतापस्य शौर्यातिशयं दर्शयति—क्षुद्रा इति । भो भो
मम मयेन पलायनरत्नात्क्षुद्राः यूयं ग्रासं जहीत—त्यजत । तत्र हेतु
प्रदर्शयति—मामको—मदोयोऽसौ कृपाणः युष्मद्देहेषु निपतने लज्जा
चरति । शस्त्रात्कारणात् भूयं मा पलायध्वम् । हस्तिदन्तच्छेदादिवृह-
त्कार्यकर्तुमंस्तलङ्गस्य क्षुद्रेषु मृदुलतरयुष्मद्देहेषु निपातो लज्जात्यदमेवेति
न युष्मानहं हनिष्यामीति फलितं भवति । हे शक्ते ! त्वं तिष्ठ, ताव-
दिदानीं त्वं मम रूपः—मम मोघस्य भाजनं न च नैवासि, नेदानीं त्वां
हन्तुमहमुद्युक्तोऽस्मीति भावः । किन्तु क्षत्रज्ञातिं द्विपन्तं—स्वकीयस्यैव
क्षत्रज्ञातेर्द्वेषारं, मलिनहृदं—मलिनं हृदयं हृद्—यस्येति स मलिनचित्त
मानं—मानसिद्धम् अन्वेपयामि—मृणयामीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अथ चारः प्रतापसैनिकानां कृत्यं वर्णयति—एकस्मादिति । एक-

चारः—न जाने क्वासौ अन्तर्हितः, किन्तु सर्वसेनायाः पश्चाद्भागे
एव स्थित आसीदिति संभावयामि ।

अक०—किमसौ प्रतापाद्विभेति ?

चारः—युज्यते चैतत्कथमन्यथा सर्वसेनायाः पश्चाद्भागे एव
स्थितोऽभवत् ।

अक०—अस्तु, ततः किमासीत् ?

चारः—ततो रणोद्भटाः प्रतापभटास्त्वदीयसेनामाक्रान्तवन्तः ।

एकस्मात्करवालचालनपटुः शोणिर्गुरु स्थानत-
श्चन्द्रावत्परतोऽच्छिनत्तव भटान्स्व चन्द्रहासं क्षिपन् ।

सालुम्बोऽपि विलुम्पयन् रणकथां वीरान् विचिन्वन्पुन-
र्मन्त्राख्यश्च तरक्षुरेव विभिदे व्यूहं प्रविश्यान्तरा ॥ ६२ ॥

अत्रान्तरे ग्वालियरक्षितीशः

श्रेष्ठैर्मटैः स्वैः सहितो दधाव ।

सैन्यं त्वदीयं सहसा विदीयं

जयध्वनिं केसरिवच्चकार ॥ ६३ ॥

स्मात्स्थानतः करवालचालनगुरुः—खड्गशिक्षकः शोणिः—शोणिनामको
गुरुः, परतो द्वितीयस्मात्स्थानाच्चन्द्रावन्नामकः सामन्तः स्व-स्वकीयं
चन्द्रहासं क्षिपन्सन् तव भटानच्छिनत् । पुनः सालुम्बोऽपि रणकथा
विलुम्पयन् सग्रामवार्तामेव समाप्नुवन्, सर्वेषां विनाशे स्वत एव रण-
वार्तायां विनाशो भविष्यति इति सर्वानेव नाशयन्निति व्यज्यते । वीरान्वि-
चिन्वन् पुष्पनयनमिव यथा मालाकारः कलिका विहाय पुष्पाण्यवधि-
नोति । एव सालुम्बोऽपि कातरान् विहाय वीरानेव मारयन्, मन्त्राख्यश्च
साक्षात्तरक्षुरेव अन्तरा—सेनाया मध्ये, प्रविश्य व्यूहं विभिदे, तथा
द्वावपि हतवन्तौ येन सेनासन्निवेशः स्वत एव चिच्छेद इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

अत्रान्तरे इति । व्यूहभेदनसमनन्तरमेव श्रेष्ठैरुत्तमैः स्वैः स्वकी-
यैर्मटैः सहितः ग्वालियरक्षितीशः—ग्वालियरप्रदेशाधिपतिः दधाव सोऽपि

अक०—ततस्ततः—

चार—तदनन्तरमेव—

यात कोऽपि घटोत्कचाकृतिसमो दन्तावलानां बले
तेषां मूलकवन्महीरुहभुजातुल्यान् करान्सोऽच्छिनत् ।
प्रस्तस्तेन भवन्मतङ्गजगणः स्वां बाहिनीं तर्जयन्
मृद्मन्नापि निषादिनोऽप्यगणयन् पश्चात्पलायिष्यति ॥३४॥

अक०—ततस्ततः—

चार.—तदनन्तरं कम्पन्धरीर्यतो विप्रस्यमान सहसा सालुम्बा
दीनामाक्रमणतः क्षुब्धमाण गजादीनां मर्दनादुद्विजमान
भवत्सैन्यं गजैः सहैव पलायितम् ।

अक०—आ व्यर्थमेव मदोन्मादिना मया सर्पे क्रीडितुमभिल
षितम् । नैतदवगतं, यत्प्रतापान्मानो विभेति । अस्तु,
ततस्ततः—

चार—तदनन्तरं पलायमान स्वसैन्यमवलोक्य सलीमप्रभृतयो
विमनस्का इवासन् । किन्तु शाहयाजस्त्वदीय

आक्रमतेत्यर्थः । सहसा स्वदीय सैन्यं विदीर्य केशरिवत्—सिंह इव जपध्वनि
वकारः । स च स्वदीयसैन्यपराजयं मत्वा सिंहवज्रगजैर्यथं ॥ ३४ ॥

अथान्यस्य सैनिकस्य मृत्युमाह—यात इति । घटोत्कचस्य आकृतिरिव
आकृतिर्यस्य स तथामृतः कोऽपि अज्ञातनामा प्रतापसामन्तः दन्तावलानां—
हस्तिनां बले—सेनायां यान्—प्राप्तोऽमृतः । स तेषां हस्तिनां महीरुहभुजा-
तुल्यान् वृक्षबाहुवद्वयान् करान्—शुण्डादण्डान्, मूलकवद् अच्छिनत्—
अनायासेनैव ताश्चिच्छेदेत्यर्थः । ततस्तदनन्तरं तेन शुण्डादण्डच्छेदन
कर्मणा प्रस्तो भयभीतो भवन्मतङ्गजगणो—भवद्हस्तिणमूहः, स्वा-
स्वकीयां बाहिनीं—सेनां तर्जयन् मृद्मन्नापि मर्दयन् निषादिनोऽपि—हस्ति
पकानि अगणयन्—तेषामद्भुतशक्तिप्रयोगममानयन्, द्राक्—भटिति,
पश्चात् पलायितोऽमृतः । प्रस्ता हस्तिणमूहः स्वसेनाभिमुखमेव पलायितो-
ऽमृतः सेनां ते बाहिनीं मर्दितेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

उपसेनापतिः सेनामध्ये प्रविश्य यशपटहमवादीत्,
अकथयच्चैतत्-भो भो सैनिका मा पलायध्वम्, यत-
श्रीमानकवरः स्वयमेवासंख्यातां सेनामादाय समराङ्गणे
समुपतिष्ठते ।

अक०—साधु, साधु युक्त एव तेन सेनाञ्जलनप्रयोग आरब्धः ।
मन्ये स फलित एवाभवत् ।

चार. —अथ किम् । ततस्तड्डकाशब्दश्रवणानन्तरमेव सर्वमपि
सैन्यं पुनः परावर्तत । फलितञ्च तस्यायं तन्त्रप्रयोगः ।
ततः पुनरपि ततोऽप्यधिकतरं सोत्साहं ते बलं युयुधे ।

अक०—ततस्ततः —

चार —ततो व्यूहे भग्ने विनाशिते बहुतरे त्वदीये सैन्ये सली-
मगज. प्रतापदृग्गोचरो बभूव । अथात्रैव मान इति
मन्यमानः प्रतापः सोत्साहं कपोते श्येन इव तदुन्मुखं-
चेतकं स्ववाजनं चित्तेषु ।

अक० आः सलीम ! ममैवायं दोषः, यत्त्वां कातरहस्ते सम-
र्पितवान् । ततस्ततः —

चारः—तदन्तरा सेनापतिरक्षका पञ्चशतं भटा प्रतापं रोद्धुं
‘प्रहीतुं’ मारयितुं च समुपस्थिताः, परंतु न जाने स
कथं केन कदा च सर्वानेव चिच्छेद । आः परमसाहसि-
कोऽसौ । चेतकोऽपि परमशिक्षित एव ।

अक०—ततस्ततः —

चार —अथ गजोन्मुखं क्षिप्तश्चेतक उत्प्लुत्य सलीमगजकुम्भा-
न्तरे पटद्वयं निधाय स्थित आसीत् । प्रतापोऽपि तत्र
गच्छन्नेव हस्तिपकशिरश्चिच्छेद । कोऽयं ममोपरि समा-
पतित इति मन्यमानो गजोऽपि तत्रसे ।

अक०—आः सलीमोऽपि किं हतः ? हा मम जीवनसर्वस्व !
हा ममाज्ञापरिपालनपरित्यक्तप्राण ! हा प्रजाधत्सल !

(इति ब्रुवन् क्षणं मूढ्यति ।)

चारः (सोद्वेगं तालवृन्तमादाय उद्बोधयति । उद्बुदः सन्)

अक०—सलीमः किं हतः ? कथय कथय त्वरितं किमिति
नोच्यते ।

चारः—महाराज ! कुमारस्तु अपरिच्युत एव । भवान् किमि-
त्युद्धिजते ।

अक०—(समुद्बुधस्य) कथय, स च कथं केन रक्षितः ?

चारः—गजप्राससमनन्तरमेव चेतको भूमाववततार । परं
प्रतापश्चेतकं पुनः परावृत्त्य तथैव गजकुम्भान्तरे
चिक्षेप । पुनः प्रतापेन चालितः करवालः सलीममञ्चं
चिच्छेद । सलीमश्च तदन्तरा एव निलीनः । परं नु हतः
सलीम इति सेनायामुद्धोष आसीत् । ततो हा सेनापते !
हा महाराजाभिराजप्राणप्रिय ! हा युवराज ! इति
त्वदीयसैनिका विलपन्तो रुरुदुः । इस्तिपकशून्य-
स्त्रस्तरश्च स गजः सलीममादाय बहुतरदूरं पलायिष्ट ।

अक०—(मनसि) अलमुद्धतशौर्येण कातरोऽपि सन् जीवतु । नाह-
मतः परं प्रतापसंमुखे त्वां प्रेपयिष्यामि ।

(प्रकाशम्) ततस्ततः

चारः—ततस्त्वदीयभटाः प्रतापं रुरुधुः । गृह्यतां वा हन्यतां
वा एषः, मा पलायतामिति वदन्तः प्रतापं ग्रहीतुं हन्तुं
चोद्युक्तवन्तः । उदुष्ट सेनायाम् सलीमो जीवतीति ।

अक०—ततस्ततः—

चारः—ततो भवत्सैनिकैः सर्वतश्छन्नं प्रतापमवलोक्य सालुम्ब-
कृष्णरावमहेश्वरसिंहप्रभृतयस्तदीयभटाः प्राणपण्येन
तमुद्धर्तुमयतन्त । सहस्रशस्त्वदीयभटांश्छिन्दन्तः

प्रतापसविधे ते सर्वेऽपि समागतवन्त आसन् । तदानीं
पलायमानं त्वदीयसैन्यमकवरः समायात इत्युक्त्वा
मानसिंहोऽवरुरोध ।

अक०--ततस्ततः--

चारः--ततश्चतुर्षु स्थानेषु कुन्तैर्विद्वो गुलिकया हतोऽपि तैः
सामन्तैः सार्धं तव सैन्याज्जीवन्नेवाऽसौ निर्गतः प्रतापः ।
परमसौ प्रताप इति छत्रचामरलाब्धनेन परिज्ञाते सति
सर्वेऽपि त्वदीयभटाः पुनः पुनस्तमेवाक्रमन्त ।

अक०--साधु सैनिकानां प्रकारः । यतस्तस्मिन् हते सर्वे हता
एव । ततस्ततः--

चारः--ततो 'निपात्यतामिदं हैममातपत्रम्, निपात्यतामिदं
हैममातपत्रम्, एतच्चिह्नेन मेवाढाधिपतिमेव सर्वे समा-
क्रामन्ति' इति प्रतापसैनिकानां सर्वत एवोद्घोषः प्राव-
र्तत । परं तु प्रतापः स्वाग्रक्षेण राजचिह्नभूतं हैमच्छत्रं
नैव न्यपातयत् ।

अक०--ततस्ततः --

चारः--तदनन्तरं प्रतापस्योपरि निपततस्त्वदीयभटानालोक्य
विजयतां विजयतां प्रताप इत्युद्घोषयंस्त्वदीयसैनिक-
भटान्नाशयन् कालारमहीपतिः प्रतापस्याभिन्नहृदयः
सुहृद् मन्नासिंहः प्रतापसविधे समागत्य मेवाढाधि-
पतेरिचिह्नभूतं छत्रं गृह्णत्वा स्वोपरि स्थापयामास, अक-
थयच्च प्रतापम्, 'अपसरतु भवान्संग्रामभूमेः । त्वयि
जीयति मतिः स्वानन्त्यमधिगमिष्यति मेवाढः । आर्य-
स्थितिरपि चिरस्थायिनी भविष्यति । अन्यथा अद्यैव
मेवाढपदे निपात्यते दासतायाः शृङ्खला, समूलमार्य-
स्थितिरापि विनश्यत्यति ।'

अक०--साधु तेन तर्कितम् । ततस्ततः--

चारः—तदनन्तरं प्रतापो मेवाढाधिपत्यचिह्नं हेमच्छत्रं परित्य-
ज्यापि त्वदीयभटाञ्छेतुं प्रावर्तत । परमसौ स्वल्पेनैव
कालेन मुमूर्षोश्चेतकस्य गतिमवगत्य शतशो विद्धं
तच्छरीरं चावलोक्य संग्रामभूमेरपासरत् । त्वदीय-
भटाश्च मन्नासिंहं निपात्य—‘हतः प्रतापः, जितमस्मा-
भिः’ इत्युद्घोषितवन्तः ।

अक०—अस्थाने भ्रान्ताः सैनिकाः । ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं तदीयभटास्ततोऽप्यधिकतरेणोत्साहेन अनु-
ध्यन्त । एतदवलोक्य युष्मद्भूतैरवगतं नार्यं हतः प्रतापः ।
तस्मिन्नेव क्षणे सेनाया बहिर्भागे गच्छन्तं प्रतापमवलोक्य
तदनुधाविनौ द्वौ सादिनौ तयोरप्यनुधाविनं शक्तिसिंहम-
वलोक्य अवश्यमेव प्रतापो हतो निगदितो वा समेष्यतीति
सर्वेऽपि निश्चितवन्तः । शुभयुत्तान्तमिदं आवयितुमहमि-
हायातः ।

अक०—सुशोभनमिदं फलितं स्यात्ते वचनम् ।

(पटोन्नयनम्)

(हतो द्वौ सादिनौ निहत्य पदचारिणं प्रतापं समाह्वयति
शक्तिसिंहः ।)

शक्ति०—भो भो नीलाश्वारोहिन् ! तिष्ठ ।

प्रता०—(परावृत्त्य) आः ! शक्तिरेवः ।

(मनसि)

आपद्गतं नष्टसुहृत्सपक्षमेकाकिनं निर्जनभूमियातम् ।

हन्तुं ग्रहीतुं किमुपागतो मां बन्धुर्विपक्षाश्रयणाच्च शत्रुः॥३५॥

अथ शक्तिसिंहमवलोक्य प्रतापो मनसि तर्कयति—आपदिति ।

आपदं गतः आपद्गतस्तम्, अश्वस्य मरणासन्नत्वात् स्वस्य रुधिरानस्सर-
णेन भ्रान्तत्वाच्च आपत्तौ प्राप्तम्, अथ च नष्टाः सुहृदः—मित्राणि,
सपक्षाः—सहायका यस्य ॥ तम्, अत एव एकाकिनमसहायम्, तत

(प्रकाशम्)

रे रे निर्धृण ! देशघातक ! कुलाङ्गार ! क्षमाभारक !

स्वं सज्जीकुरु कुन्तमाशु निपतत्यूर्ध्वं तवैष क्षणात् ।
हत्वा त्वामवनेनिरस्य कलुषं त्वत्पापशुद्धिं चर—
न्नात्मज्ञातिविपक्षपक्षचरणे गर्वं च ते चूर्णये ॥ ३६ ॥

(शक्तिसिंहः प्रतापपवनं शृण्वन्नेव खड्गं कुन्तं च दूरतः क्षिपति ।
रुद्धन्नेव कथयते ।)

शक्तिसिंहः—भ्रातः ! क्षमस्व ममापराधम् । घाटमहं देशद्रोहकः ।

एव निर्जनमूमियातं—निर्जनस्थानं प्राप्तं मा बन्धुर्यन्धुमृतः शक्तिसिंहः किं
हन्तुं—मारयितुं ब्रवीतुं वा समुपागतः, यद्यपि बन्धो नैतत्संभाव्यते परं
तु विपक्षस्य शत्रोराश्रयणात् शत्रुरेव । यद्यपि यास्तद्विकृतया नायं शत्रुः,
परं तु शत्रोराश्रयेण शत्रुरेवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अथ शक्तिसिंहः शत्रुरेवेति निश्चित्य कथयति—रे रे इति । रे रे
नीचातिनीच ! निर्धृण ! निष्करुण ! आपत्तिममयेऽपि प्रहारकारित्वा-
त्करुणाराहित्यं सन्त्यते । देशघातक ! मेवाढदेशस्य दास्यतासपादने
सहायकत्वाद्देशघातकत्वम् । कुलाङ्गार ! ग्लेश्छेदासतास्वीकारात्कुलप्रति-
ष्ठादाहकत्वेन कुलाङ्गारकत्वम् । क्षमाभारक ! पूर्वोक्तपापयुक्तत्वेन
ज्येष्ठभ्रात्रा मया सह विरोधकरणाच्च पापाचारित्वेन पृथिव्या भारभूतत्वं
सन्त्यते । एवं संशोध्य कथयति स्वं-स्वकीयं कुन्त सज्जीकुरु, यत एतत्ते
हृदये सतापो मा भूच्छ्रुतेन विद्धोऽहम् । अथ पुनः प्रबोधयति—एष
प्रतापः क्षणात्क्षणमात्रेण ऊर्ध्वं प्रत्यासत्त्या तवैवोर्ध्वं निपतति । अथ
फलं दर्शयति—त्वा हत्वा, अवने.—पृथिव्याः कलुषं-दुरितं निरस्य, तव
मरणेन पृथिव्याः कलुषस्य निवृत्तिः स्वत एव भवति । त्वत्पापशुद्धिं
चरन् कुर्वन् सन्, त्वन्मारणमेव तव प्रायश्चित्तं संपादयन्सन्, आत्म-
शान्तेः—स्वकीयक्षान्तिशान्तेरपि—शत्रुर्धोऽकबरस्तस्य पक्षचरणे-तत्पक्षस्वी-
कारे ते तव गर्वमभिमानं च चूर्णये । तव मरणेन अकबरपक्षाश्रयणाज्जा-
यमानस्तव गर्वोऽपि उपशमिष्यति ॥ ३६ ॥

न जाने कुतो मे बुद्धौ भवितव्यतावशादापत्तिः
पापाणः ।

(प्रतापः शक्तिपवनमाकर्ण्य त्वरितमेव शक्तिसिंहं वक्ष्यतां आतिङ्गति)
(शक्तिसिंहः प्रतापपदे निपतति ।)

प्रता० (रुदन् शक्तिसिंहमुत्थापयति ।) कुतोऽयमनुरागः ?

शक्ति०—न दासतां गच्छतु मातृभूमिस्तदर्थमेतान्भवतः सपत्नान् ।
संप्रामभूमौ पतितान्निरीक्ष्य त्वदर्थमेवाप्लवते मनो मे ॥३७॥
आतस्त्यदीयश्रोतको मृतः ।

प्रता०—मुमुर्षुमेनमवलोक्यैव संप्रामभूमेर्वहिरागतोऽहम् ।

शक्ति०—सेनातो वह्निर्गच्छन्तं भवन्तमवलोक्य द्वौ स्तेष्वधिराज,
सादिनौ भारयितुमनुधावितौ । एतदवगत्य अहमपि
द्रुततरं तावनुगत्य अन्तरैव हत्वा तव चरणयोः प्राप्तः ।
अधुना स्थानान्तरमपसरतु भवान् । कदा
चिच्छत्रसैनिका मद्विलम्बात्संदिहाना इहाप्यागच्छेयुः ।
अतः परं त्वरितमेवाहं दासतायाः शृङ्खलां भङ्क्त्वा
त्वत्सेवायां समेप्यामि ।

((प्रतापः निष्क्रान्तः ।))

(पटोन्नयनम् । शक्तिश्च दण्डभूमिमागच्छति)

मानः—शक्ते ! किं निहतः प्रतापः ?

शक्तिसिंहश्च रुदन्तपदे निपतति । प्रतापोऽपि चेतसो द्रवीभावाद-
भ्रूणि विमुञ्चति ।

अथ शक्तिसिंहोऽनुरागकारणं दर्शयति—न दासतामिति । मातृ,
भूमिर्मेवाहभूमिर्दासता न गच्छतु, तदर्थमेतान्प्रत्यक्षतयाऽवलोकितान्
भवतः सपत्नान्—भवत्सहायकान्, संप्रामभूमौ पतितान्मृताग्निरीक्ष्य त्वद-
र्थमेव त्वदुद्देश्यकत्वेनैव, मे—मम मनः आप्लवते । त्वदर्थमेवायं मे देहो
भवतु इति मनोऽभिलषतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

शक्तिः—स नैव हतः, किन्तु स एव तौ द्वावपि सादिनौ निहत्य क्व पलायितः इति नाहं जान ।

मानः—अहो सायंकालः संवृत्तः । पश्य—

आरुण्यं गगनाङ्गणे समुदितं मुष्णत्प्रतीच्या मुखात्
क्षोण्यां धावदशेषवस्त्वपहरत्प्राचीपदादुद्धवत् ।

ज्ञानं चाप्यपसारयत्स्वपरयोः शान्तिं समुत्पादय—

नीलैर्लिम्पदिवान्तरंगतभिदं ध्वान्तं समुज्जृम्भते ॥३८॥

इति वाद्यतां विजयपटहः (इति तदाज्ञया कश्चित्सेनिको विजयपटहं वादयति) (इतश्चन्दाघस्तेनापतेराज्ञया प्रतापसेनिकोऽपि विजयपटहं वादयति । इति निघर्तन्ते सभयोरपि सेनयोः सेनिकाः ।)

(ततः प्रविशन्ति रणभूमौ वीरभद्रसहिताः पिशाचाः ।)

अथ मानः सायंकालमवलोक्य कथयति—आरुण्यमिति । प्रतीच्याः—पश्चिमाया मुखात् गगनाङ्गणे-आकाशे समुदितम् आरुण्यमुष्णत्-चोरयत्, क्षोण्या-पृथिव्या धावत्-स्तरितगत्या प्रहरत् । अशेषवस्तु, जातिवादेकवचनम् । समस्तान्यपि वस्तूनि अपहरत् । प्राचीपदा-त्पूर्यदिशः स्थानात् उद्धमवत् प्रादुर्भवत् । तथा स्वपरयोर्ज्ञानं च अपसारयत्-अयमास्मीयः अयं परः परकीय इति ज्ञानं निवारयत् शान्तिं समुत्पादयत्-सर्वेषां स्वस्वव्यापारान्निवृत्तेः शान्तिं जनयदित्यर्थः । अन्तर-पृथिव्याकाशयोन्तराल नीलैः नीलवर्णैर्लिम्पदित्युत्प्रेक्षा । गतभिद-गतो मिदो यसमात्, एकाकारतया अमेदरूपेण स्थित ध्वान्तमन्धकारं-समुज्जृम्भते-क्रमशः ऊर्ध्वतिर्यग्भूमागादिप्रदेशेषु वर्धते ॥ ३८ ॥

अथ तृतीयपिशाचो मन्नासिंहशीर्षं लब्ध्वा कथयति—अनेनेति । अनेन मन्नासिंहशीर्षेण-महेश्वरः-श्मशाननिवासी रुद्रो महर्तो-वृहत्तरां सुमुण्डमालां विंशष्टवीराणां मुण्डैर्निर्मिता माला परिगुम्फयिष्यति । ततश्च अपूर्य रूपं यस्य तत्तथा लोकोत्तरशोभातिशयि, सुमेरुणा संगतं-सुमेरु-सगमम्, अद्यावधि तथाविधवीरस्यानुपलब्धे सुमेरुद्वितामेव मान्ना

पिशाचः—अले ले सज्जो मालिअस्स अस्स उसिणो लुहिलो ।
 अरे रे सद्यो मारितस्य अस्य उष्णं वधिरम् ।
 अले अम्हे अप्पाणं घटे मलिस्सामो ।
 अरे वयम् आत्मना घटान्मरिष्यामः ।

द्वि० पिशा०—अले ले इमस्सि बहुयलं मज्जा । अणेण अम्हाणं
 अरे रे अस्मिन् बहुतरा मज्जा । अनेन अस्माकं
 बहुकालो गमिस्सइ ।
 बहुकालो गमिष्यति ।

तृ० पिशा०—अले अम्हेहिं मन्नासीहसीसो लद्धो ।
 अरे अस्माभिर्मन्नासिहशीर्षे लब्धम् ।

अणेण सीसेण महेसलो महं सुमुण्डमालं पलिगुम्फइस्सइ ।
 अनेन शीर्षेण मद्देश्वरो महतीं सुमुण्डमाला परिगुम्फयिष्यति ।
 अणुव्यल्लो थ सुमेलुसंगओ विलक्खणो लुहल्लो लगिस्सइ ३६
 अपूर्वरूपञ्च सुमेरुसंगतं विलक्षणं रुद्रारो लभिष्यति ४०

द्वि० पिशा०—अले ले मए हत्थिसमूहवित्तासअस्स महेसल-
 अरे रे मया हस्तिवृक्षमूहवित्रातकस्य मद्देश्वर-
 सीहस्स सिलो लद्धो ।
 सिहस्य शिरो लब्धम् ।

एयं जगज्जो जणणी लुहाणी कालिआ सुमालाए ।
 एतज्जगतो जननी रुद्राणी कानिका एवमाज्ञायाः ।

परिदधाति । अतः परं लोकोत्तरशीर्षशालिनस्तस्य शीर्षं मुण्डमालायां
 सुमेरुमविष्यति, तत्तर्षबन्धश्च उरसा मविष्यति । एवं सुमेरुसंगतं विल-
 क्षणम्—अनिर्वचनीयशोभायुक्तं रुद्रोरः लभिष्यति, तथाविधमालया
 अत्यन्तशोभायुक्तं मद्देश्वरस्य वक्षःस्थलं मविष्यतीति भावः ॥ ३६ ॥

एतदिति । जगतः—सकलचराचरलोकस्य, जननी—उत्पादयित्री,
 रुद्राणी कालिका एतन्मुण्डं स्वमालाया उत्तमवीरपुरुषाणां मुण्डैर्निर्मि-

मज्जे घलिऊण महं समसाणं साहु भम्मिस्सइ ॥४०॥

मध्ये धृत्वा महाश्मशानं साधु भ्रमिष्यति ॥ ४० ॥

वीरभद्रः—पश्यत पश्यत—

एष द्वातलशायिनं शवमुरःप्रान्ते निधायोन्नतै-
रुग्रैः स्वैनखरैर्विपाट्य किमपि क्रोडादुपादित्सते ।

मज्जां लिम्पति पादयोः परिदधात्यन्त्रं तनौ कौतुका-
दव्यग्रं पिशितं समुन्नतरदैरुत्कृत्य भुङ्क्ते सुखात् ॥४१॥

(ततो निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति श्रीमहामहोपाध्यायमधुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके चतुर्थोऽङ्कः ।

ताया आत्ममालाया मध्ये धृत्वा तत्रैनदपि परिगुम्प्य महाश्मशानं
तत्रैवास्या निवासात् साधु-सम्यक् प्रकारेण यथेच्छं भ्रमिष्यति ॥ ४० ॥

अथ वीरभद्रः कस्यचित्पिशाचस्य कृत्यं स्वसहचरान्दर्शयति—एष
इति । एषः पुरो दृश्यमानः पिशाचः, द्वातलशायिनं—पृथिव्यां निपतितं,
शव—कस्यचिद्बीरस्य मृतदेहम्, उरःप्रान्ते—उरसः वक्षस्थलस्य समीपे,
निधाय—स्थापयित्वा, जह्वाद्भयस्योपरि स्थापने उरःप्रान्ते स्वत एव
स्थितिर्भवति । उन्नतैरुग्रैरतिकठोरैः स्वैनखरैः—स्वकीयनखैर्विपाट्य क्षिप्रं—
शीघ्रमेव तन्मध्यात्सम्यक् प्रकारेण किमपि उपादित्सते ग्रहीतुमिच्छतीत्यर्थः ।
मज्जां पादयोर्लिम्पति । शिरोवर्ष्मणोः शीर्षदेहयोरन्त्रं परिदधाति, अन्त्र-
मेव स्वदेहे परिधत्ते इत्यर्थः । अव्यग्रं यथा स्यात्तथा समुन्नतरदैस्तीक्ष्णो-
न्नतदन्तैः, पिशितं—मांसम् उत्कृत्य—ततः । कश्चिच्छ्लित्वा, सुखात् भुङ्क्ते
सादतीत्यर्थः । 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम् ॥ ४० ॥

इति श्रीमहामहोपाध्याय—विद्यावारिधि-सर्वतन्त्रस्वतन्त्रमधुराप्रसादकृतौ
वीरप्रतापनाटके चतुर्थोऽङ्कः ।

पञ्चमोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(अजमेरराज्ये स्वशिविरे एकाकी स्थितोऽकबरश्चिन्तयति ।)

अक०—हतो भटैः स्याद् यदि वा गृहीतः

संतापकारी तपनः प्रतापः ।

ततो भवेद्राज्यमखण्डमेवम्

सुखी परः स्यामपि सार्वभौमः ॥ १ ॥

कथं समरभूमेर्नाथापि प्रतिनिवर्त्तन्ते सैनिकाः । अहो
मानोऽपि चिरयते । किमसौ प्रतापा निःसृतः, किं वा रात्रौ
पुनः संप्रामः प्रवृत्तः । (पुनर्दक्षिणदिशमवलोकमानस्तर्कयति ।)

एतद् भूमिपरागरञ्जितपदं पिङ्गं नमो दृश्यते

भूयो भूय इव क्षमातलसमुद्भूतो ध्वनिः श्रूयते ।

यदकबरश्चिन्तयते तद्दृश्यति—हत इति । संतापकारी—दुःखदाता,
तपनः—साक्षात्पर्यस्वरूपः, सिंहा माणवक इति वस्तुस्यगतपवित्रकारित्व-
मास्वत्कान्त्यादिगुणविशिष्टः, यद्वा—संतापकारी—मानसिकदुःखदाता,
तपनः—तपस्वी । प्रतापः भटैः प्रत्यासत्या अस्मद्भटैर्हतो मारितः स्यात्
यदि वा गृहीतः स्यात्, ततस्तदनन्तरमेतद्राज्यमखण्डं संपूर्णं स्यात्,
अह परःउत्तमः सुखो, सार्वभौमाऽपि स्याम् ॥ १ ॥

अकपरी दक्षिणदिशमवेक्षमाणास्तर्कयति—एतदिति । एतन्नमः
भूमेः पृथिव्याः परागैर्धूमिना रञ्जितं पदं स्थानं यस्येति तथाभूतं सतिरङ्ग-
पीतवर्णं दृश्यते । सेन्यागमने धूलिभिराच्छादितं गगनमवगम्यत इत्यर्थः ।
तथा भूयो भूयः इव बारं बारमिव क्षमातलसमुद्भूतः पृथ्वीतलाज्जाय-
मानो ध्वनिः श्रूयते । तथा एष प्रत्यक्षतया विलोक्यमानः शनैर्मन्दं
मन्दं गच्छन् श्यामलः—श्यामवर्णो मत्तो—मदान्मत्तो गजनिबद्धो—हस्ति-

एष श्यामलमत्तनागनिबहो गच्छच्छन्नैर्ज्ञायते

नूनं मानसलीमशक्तिसहितैः सैन्यैः समागम्यते ॥ २ ॥

(ततः प्रविशति शाहबाजमानसिंहसहितः सलीमः ।)

सलीमः—

मेवाडराजं हतमित्रवर्गं भवद्भटैश्छिन्ननखाङ्कुशास्त्रम् ।

सहायभिन्नं विपिनेऽतिघोरे विद्राव्य सिंहं प्रणुते सलीमः ॥ ३ ॥

मानः—प्रतापगर्वशमको मेवाडध्यजमर्दकः ।

सार्वभौमस्य मानोऽसौ वन्दको कुरुते प्रभोः ॥ ४ ॥

अक०—(साश्वर्यमिव) किमसौ प्रतापः पलायितः ? न धृतो

नैव वा हतः ? । अधृतेअहते वा प्रतापेनाहं सार्वभौमः ।

सली०—भिन्नसपत्नो हतप्राय एव सः ।

समूहो शयते । नूनं—निश्चितमेव मानसलीमशक्तिसहितैः सैन्यैर्हस्त्यश्व-

पदात्यादिभिः समागम्यते । सैन्यस्य ध्वन्यादिभिरिदमवगम्यते मेवाडं

विजित्य सकुशलैरेव सर्वैरागम्यते ॥ २ ॥

सलीमः प्रणमन्स्वकार्यं सूचयति, मेवाडराजमिति । सलीमः,

हतः मित्रवर्गो यस्य सः ततथाक्तम् । भवद्भटैस्त्रसैः निःशस्त्रैश्छिन्नानि

नखाङ्कुशास्त्राणि यस्य तम् । सिंहपक्षे—नखान्येव अङ्कुशास्त्राणि यस्येति ।

प्रतापपक्षे—नखानि च अङ्कुशास्त्राणि यस्य तम्, सहायभिन्नं सहायेरपर-

मटैः, अन्यत्र शृङ्खलाप्रादिभिर्भिन्नं रहितम् । सिंह—सिंहस्वरूपं—प्रतापम्

अतिघोरे-महामयङ्करे विपिने—वने विद्राव्य—प्रणुते—नमस्करोति ॥ ३ ॥

अथ मानः स्वकार्यं सूचयन् प्रणुते—प्रतापेति । प्रतापगर्वस्य

शमकः—प्रतापगर्वविनाशक इत्यर्थः, तथा मेवाडस्य—मेवाडदेशस्य

ध्वजस्य—पताकाया मर्दकः—मेवाडं विजित्य तत्पताकाया ध्वंसकः, असौ

मानो मानसिंहः सार्वभौमस्य सर्वभारतस्थाविपतेः प्रमोदकरस्य वन्दको-

वन्दनां परिचर्या वा कुरुते ॥ ४ ॥

अक०—कथमसौ जीवन्निःसृतः ? श्रुतमेतन्मया मुल्तानी-
खुरासान्यौ भटावनुधावितौ, तदनु शक्तिसिंहश्च
प्रधावित इति पुनरपि कथमसौ न निहतः ?

मानः—शक्तिसिंहोऽपरिहृत एव परावृत्त इति संभावयामि
शक्तिसिंहेनैव तौ निहत्य स्वप्राप्ता रक्षितः ।

अक०—आम् ! युक्तं संभाव्यते एवमेवैतत् । अस्तु । प्रतापो
प्रहीतव्यो हन्तव्यो वा, चिरकालं स्थितः पुनरु-
पद्रोष्यति ।

शाहवाजः—मामाज्ञापयन्तु महाराजाः । अहमेनं कृणाद्
विजित्य बध्वा च आनेष्यामि ।

अक०—शाहवाज ! सर्वं त्वयि संभाव्यते । अथ त्वरितमेव गच्छ ।
निविडविपिनमध्ये कन्दरामन्दिरे वा
शिखरिशिखरभागेऽधित्यकायां स्थितं वा ।
सकलमवनिभागं शोधयित्वा निवध्य
त्वरितमरिममुं त्वं मत्पदे पातयेथाः ॥ ५ ॥

तस्य स्थितेः शोधनार्थं पञ्चत्रिंशत्सहस्रसंख्याकान्भटान्नयस्व ।
(ततः प्रविशति स्वानुचरभटेरनुगम्यमानः शक्तिसिंहः ।)

शक्ति०—विजयताम् एकलिङ्गेश्वरः ।

अकबरः शाहवाजमाज्ञापयति— निविडेति । त्वं सकलमवनिभागं-
मेवाडभूभागं, शोधयित्वा निविटं—सघनं यद् विपिनं—वनं तस्य मध्ये तम्
कन्दरैव मन्दिरं—भवनं तत्र स्थितम् । यद्वा—कन्दरा च मन्दिरं चेति
कन्दरामन्दिरम् 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवद्भावः, तस्मिन्, कन्दरायां
मन्दिरे देवालये गृहे वा स्थितम् । तथा शिखरिणः पर्वतस्य शिखराणां
भागे कस्मिंश्चित्पदेशे स्थितम् । अथवा—अधित्यकायां पर्वतान्योपरि
स्थितम् । अमुमरिं प्रतापं निवध्य त्वरितं—शीघ्रं मत्पदे .पातयेथाः,
मघरणो पातय ॥ ५ ॥

मानः—(मनसि) कथमसौ एकलिङ्गेश्वरस्य जयं प्रार्थयते । बाढं विरक्तोऽस्तीति ज्ञायते ।

अक०—कथमसौ प्रतापो विनिःसृतः ? कथं वा त्वया परित्यक्तः ?
(अन्तरेव सलीमः शक्तिमिह वक्ति ।)

सली०—सत्यं कथय त्वामभयदानेन परिपालयामि ।

शक्ति—तौ भटौ निहत्य मया प्रतापो रक्षितः ।
(सर्वे साश्चर्यमिव शक्तिमिहमवलोक्यते ।)

सली०—कस्मादसौ रक्षितः ?

शक्ति०—सालुम्बतातो निहतः समक्ष—
सन्याययातैः सुभटैस्त्वदीयैः ।
रुग्णे विपण्ये च पलायमाने—
अनुधावनं कौर्यमिदं न शौर्यम् ॥ ६ ॥

सली०—तर्हीदानीमस्मत्पक्षाद्विरक्तोऽसि ?

शक्ति०—बाढं विरक्तोऽस्मि ।

सली०—तर्हि यथेच्छं गच्छ । अभयदानेन परिपालितोऽसि ।

शक्तिमिहः अकबरपक्षत्यागकारणपुरस्सर प्रतापरक्षणे कारणं प्रदर्शयति—सालुम्बेति । समक्षं मम समक्षमित्यर्थः । अन्याययातैः—अन्यायेन यातैः पश्चाद् भागान्निनीय प्राप्तैस्त्वदीयैः सुभटैरुक्तममटैनं तु साधारणभटे; सालुम्बतातो निहतः । पितृस्थानीयः सालुम्बतातो मम समक्षमेव युष्मद्भटैरन्यायान्निहत इति पक्षत्यागकारणं दीर्घरूपेण सूचितम् । अयं प्रतापरक्षाकारणं दर्शयति । रुग्णे—व्रणादिना मूर्छिते, विपण्ये—पुत्रादिमरणेन विपादयुक्ते रणातराद्मुखे इत्यर्थः तथा पलायमाने—पलायनं कुर्वन्ति सति अनुधावनं—पश्चादाक्रमणकरणं शौर्यं न । नैतच्छूराणां कार्यम्, किं तु इदं कौर्यम्, क्रूराणामेवेदं कार्यम् । अश्वस्य मरणावन्तत्वात्प्रतापो विपादयुक्त एवासीद्, अतः स मया रक्षितः ॥ ६ ॥

शक्ति०—समरैकव्रतानां मृत्युनिर्भयाणां भटानां नैव कुतोऽपि भयमस्ति । (इति ब्रुवन्नेव स्वानुचरमटैः सहैव निष्क्रान्तः ।)

सली०—युक्तं मानेन तर्कितम् ।

मानः—मया तदाकृत्या चैष्टया व्यवहारेण चावगतमासीत् । भवता युक्तमेव कृतम्, यदसौ निस्सारितः, न जाने पितुरोपाद् रुष्टस्सन् कमप्याक्रामेत् ।

अक०—यावदसौ प्रतापसाहाय्याय समुपतिष्ठते ततः पूर्वमेव प्रतापो ग्रहीतव्यः । अन्यथाऽस्य साहाय्येन स प्रथलो भविष्यति ।

शाहयाजः—कोऽसौ वराकः ।

द्वित्रैर्विनैरेव निपात्य चैनं वद्ध्वा भवत्यादत्तले ध नेष्ट्ये ।
कोऽसौ वराकः किमु वा प्रतापो रणे धृतासौ मयि युध्यमाने ॥७॥

अक०—तर्हि नेदानीं कालः प्रतीक्षितव्यः ।

सली०—इदानीं वर्षाकालः संवृत्त इति द्वित्रमासानन्तरमेवाभियातव्यम्, अन्यथा पर्यतीयनद्यादिभिर्महती हानिः संपत्स्यते, विजयाशा च दूरे स्थास्यति ।

अक०—(मानस्याभिमुखं पश्यन्) मानसिंह ! किमत्र युज्यते ?
मानः—युक्तमेव सलीमस्तर्कयति ।

अक०—शाहयाज ! एवमेव भवतु । प्रतीक्षस्व तायद्वर्षाकालम् ।
(ततो निष्क्रामन्ति मानप्रभृतयः ।)

अक०—दीवारिक ! विश्रान्तिमभिलषामि तद् विश्रामस्थानं प्रदर्शय,

दौवा०—इदो इदो महाराओ ।
इत इतो महाराजः ।

(इति दौवारिकेण सह निष्क्रामत्येकवारः)

द्वितीयो दृश्यः । पटोन्नयनम्

(इतः प्रतापो वर्षाकालेऽवकाशमावाय अवशिष्टान्तामन्तान् सैनिकाश्चै-
कत्रीकृत्य गोगन्धर्ववते स्थितः शत्रोरागमनं प्रतोद्धते ।)

(शक्तिसिंहः स्वभटैः सह परामृशन्गच्छति ।)

शक्तिः—राज्ञः समीपे रिक्तपाणिमिरस्माभिर्नैव गन्तव्यम् ।

भटाः—इयमेव शास्त्रमर्यादा, तद्योग्यमुपायनं गृहीत्वैव गन्तव्यम् ।

शक्तिः—ममैतत्प्रतिभाति, यदिदं पुरतो दुर्गं विजित्य तदेव-
द्विजित्य एनदेवोपायनं दातव्यम् ।

भटाः—एतत्क्षणशो वयं विजेष्यामहे । (इति शक्तिसिंहो भटैः सह
गच्छति । गत्वा तद्रक्षकं निपात्य वध्वा च दुर्गोद्घाटनयन्त्रं
गृह्णाति । रक्षकभटप्रार्थनया तमुन्मुष्याऽऽगच्छति । एवं ॥
द्विजित्य प्रतापसमीपे स्वभटैः सहितः शक्तिसिंहः उपतिष्ठते ।)

शक्तिः—मातृभूमिसुरक्षार्थं गृहीतासिन्नवानुग ।

लघुभ्राता त्वदीयोऽयं शक्तिस्ते प्रणतः पदे ॥ ८ ॥

(इति प्रथम्य प्रतापचरणे तालिका समर्पयति ।)

प्रतापः—कीदृगियं तालिका ?

शक्तिः—भवच्छरणारविन्दसेवायामागच्छता मया विचारित-
मिदम्, यत्प्रभो राज्ञः समीपे रिक्तपाणिना नैव
गन्तव्यमतः 'किसरूर' दुर्गं विजित्य मेवाडध्वजं
तत्रारोपितम् । कतिचिद्भटाश्च तत्र तद्रक्षणाय नियुक्ताः ।
इयं तदुद्घाटनतालिका ।

अथ शक्तिसिंहः स्व प्रतापानुगामिनं सूचयन्प्रणुते—मातृभूमीति ।
मातृभूमेः शोभनप्रकारेण रक्षार्थं गृहीतः असिन्नतो येन च., तस्य
अनुग-अनुचरः । भवदनुचर इत्यर्थः, लघुभ्राता त्वं लघुभ्राता,
त्वदीयः-सर्वथा अनुगामी अयं शक्तिसिंहस्ते पदे प्रणतः-भवच्छरणे
निपतिवोऽस्तीति ॥ ९ ॥

प्रता०—प्रसन्नोऽस्मि त्वदीयेन एतत्कृत्येन, तत्तवैवाधिकारे तिष्ठतु ।
(इति तालिका ददाति ।)

शक्ति०—किमत. परं युद्धाद्विराममभिलपन्ति महाराजाः ।

प्रता०—असंभावितमेतत्—

यावन्लेच्छपतेः समिद्धमखिलं गर्वं न संचूर्णये
तापं चात्मकृती परं विदधतं सन्धी न तं पातये ।
मानस्याप्यभिमानमुन्नतमहं सर्वं न चोच्छदये
तावद् युद्धसमुद्यमात्स्वहृदयं स्वप्नेऽपि नावर्तये ॥ ६ ॥

शक्ति०—युक्तम्, एवमेव युज्यते । अहं तु भवतामनुचर एव ।
यावज्जीवं युद्धाय समुपस्थास्ये ।

(तदनन्तरं स्वभटान्प्रतापसाहाय्याय विमुच्य स्वयं तत्रैव दुर्गे समुप-
गच्छति शक्तिसिंहः ।)

चारः (प्रविश्य) महाराज, वर्षाकालसमाप्त्यनन्तरं मानशाह-
बाजप्रभृतयो भवन्तं प्रहीतुं महता बलेन सनह्य प्रचलिताः ।
पटोलयनम् ।

(ततः प्रविशति कस्याञ्चिददृश्यान्या प्रतापं मृगयमाण इन्द्रपुराधिपतिः)
सामन्तः—(सत्रं कञ्चन भटमवलोक्य, मनसि ।)

नूनमनेन प्रतापसैनिकेन भाव्यम् । को वाऽस्य एकाकी
एवंभूतायामदृश्यान्या भ्रमितुं शक्नोति । अस्तु, तावदा-
भाषणेन प्रत्येमि । (स्फुटमवलोक्य) अहो! प्रतापसहा-

यावदिति । यावन्नेच्छानेरकवरस्य

गर्वं न संचूर्णये-नैव नाशयामि । आत्मना
परमत्यन्तं तापं-यश्चात्तापं विदधतं कुर्वन्तं
नैव पातयामि च । तथा अहं समुन्नत-लोके
मानविहस्यापि सर्वमभिमानं न च उच्छेद-
तावद् युद्धसमुद्यमाद् युद्धोद्यागात्स्वहृदयं
युद्धान्नैव विरतो भवामीत्यर्थः ॥ ६ ॥

यको रुद्रसिंहभटो ज्ञायते । (प्रकाशम्) भो रुद्रसिंह ! जयतु
जयतु एकलिङ्गेश्वर ।

रुद्रसिंहः—अहो इन्द्रपुराधिपति. सामन्त । जयतु २ एकलिङ्गेश्वरः ।

साम०—कुत इदानीं प्रयातोऽसि ?

रुद्र०—आगरानगरात् ।

साम०—श्रूयते अकबरेण स्त्रीणां चातुर्यशिक्षणाय विपणिः
कारिता ।

रुद्र०—एवं कथय आर्यगौरवनाशाय व्यभिचारशिक्षणाय च
विपणिः कारिता ।

साम०—कथम् ?

रुद्र०—स चाकबर स्वयं प्रच्छन्नवेपेण सानुचरो गत्वा आर्य-
मर्यादां नाशयति ।

साम०—तर्हीदानीमार्यमर्यादा महानदतटीव संवृत्ता, ईश्वर
एव ता रक्षतु ।

रुद्र०—ईश्वरस्त्विदानीं पाश्चात्यदेशेषु परिभ्रमणार्थं गतः । अत
आर्यमर्यादा मेवाढप्रदेशजाता एव रक्षन्तु ।

साम०—प्रताप क्वेदानीम्

रुद्र०—शृणु, संक्षेपेण कथयामि । यदा अरुबरभटा गोगन्धर्वपर्वत-
मवरध्य स्थिता आसंस्तदा तत्र ससामन्तः प्रताप
किञ्चि काल युद्ध्वा कोमलमीरपर्वते अगच्छत् । इतो
रात्रौ शिविनीसिंहः प्रतापसामन्तः स्वभटैः साद्वं तमस्येव
सहस्रशो यवनभटारिहृन्दन् सूर्यमण्डलनिर्गमनान्तरमेव
तमपि विभिद्य परमं स्थानं गतः ।

अथ प्रतापस्य विपत्तिं प्रदर्शयति—गरलमिति कृष्णचित्तः—कृष्णे
नित्त यस्य सः कृष्णाराधकः । यद्वा कृष्ण पापाक्रान्तत्वात्कृष्णवर्णं चित्तं
यस्य सः तथा । यवनपते. सहाय -सहामत, सेष्यः—ईर्ष्यायुक्तः प्रतापस्य
शिवोपासकत्वादकारिणिकेर्ष्यासयुक्तः अर्बुदेशः—अर्बुददेशाधिपति.

प्रता०—प्रसन्नोऽस्मि त्वदीयेन एतत्कृत्येन, तत्तवैवाधिकारे तिष्ठतु ।
(इति तालिका ददाति ।)

शक्ति०—किमत. परं युद्धाद्विराममभिलपन्ति महाराजाः ।

प्रता०—असंभावितमेतत्—

यावन्त्लेच्छपतेः समिद्धमखिलं गर्भं न संचूर्णये
तापं चात्मकृतौ परं विदधत सन्धौ न तं पातये ।
मानस्याप्यभिमानमुन्नतमहं सर्वं न चोच्छेदये
तावद् युद्धसमुद्यमात्स्वहृदयं स्वप्नेऽपि नावर्तये ॥ ६ ॥

शक्ति०—युक्तम्, एवमेव युज्यते । अहं तु भवतामनुचर एव ।
यावज्जीवं युद्धाय समुपस्थस्ये ।

(तदनन्तरं स्वभटान्प्रतापसाहाय्याय विमुच्य स्वयं तत्रैव दुर्गे समुप-
गच्छति शक्तिरिह. ।)

चार. (प्रविश्य) महाराज, वर्षाकालसमाप्त्यनन्तरं मानशाह-
वाजप्रभृतया भवन्तं ग्रहीतुं महता बलेन सन्नद्धा प्रचलिताः ।
पटोन्नयनम् ।

(ततः प्रविशति कस्याञ्चिद्वरण्या-या प्रताप मृगयमाणं इन्द्रपुराधिपतिः)
सामन्तः—(तत्र कश्चन भटमवलोक्य, मनसि ।)
नूनमनेन प्रतापसैनिकेन भाव्यम् । को याऽन्य एकाकी
एवंभूतायामरण्यान्यां भ्रमितुं शक्नोति । अस्तु, तावदा-
भाषणेन प्रत्येमि । (स्फुटमवलोक्य) अहो अयं प्रतापसहा-

यावदिति । यावन्त्लेच्छपतेः समिद्धमखिलं गर्भं न संचूर्णये-नैव नाशयामि । आत्मनः कृतौ युद्धादिरूपे कार्ये
परमस्थन्त ताप-वश्चात्तापं विदधत कुर्वन्त सन्धौ न पातये-सन्ध्ययं
नैव पातयामि च । तथा अहं समुन्नत लोके विजयित्वेन प्रवृद्ध मानस्य-
मानसिहस्यापि सर्वमभिमानं न च उच्छेदये-समूलं नैवोच्छेदयामि,
तावद् युद्धसमुद्यमाद् युद्धोद्योगात्स्वहृदयं स्वप्नेऽपि न आवर्तये-तावत्
युद्धान्नैव विरता भवामोत्थयः ॥ ६ ॥

यको रुद्रसिंहभटो ह्यायते । (प्रकाशम्) भो रुद्रसिंह ! जयतु
जयतु एकलिङ्गेश्वरः ।

रुद्रसिंहः—अहो इन्द्रपुराधिपतिः सामन्तः । जयतु २ एकलिङ्गेश्वरः ।

साम०—कुत इदानीं प्रयातोऽसि ?

रुद्र०—आगरानगरात् ।

साम०—श्रूयते अकबरेण स्त्रीणां चातुर्यशिक्षणाय विपणिः
कारिता ।

रुद्र०—एवं कथय आर्यगौरवनाशाय व्यभिचारशिक्षणाय च
विपणिः कारिता ।

साम०—कथम् ?

रुद्र०—स चाकबरः स्वयं प्रच्छन्नवेपेण सानुचरो गत्वा आर्य-
मर्यादां नाशयति ।

साम०—तर्हीदानीमार्यमर्यादा महानदतटीव संवृत्ता, ईश्वर
एव तां रक्षतु ।

रुद्र०—ईश्वरस्त्विदानीं पाश्चात्यदेशेषु परिभ्रमणार्थं गतः । अतः
आर्यमर्यादां मेवाहप्रदेशजाता एव रक्षन्तु ।

साम०—प्रतापः कवेदानीम्

रुद्र०—शृणु, संक्षेपेण कथयामि । यदा अकबरभटो गोगन्धर्वत-
मवरुध्य स्थिता आसंस्तदा तत्र ससामन्तः प्रतापः
फिस्त्रिकालं युद्ध्वा कोमलमीरपर्वते अगच्छत् । इतो
रात्रौ शिविनीसिंहः प्रतापसामन्तः स्वभटैः सार्द्धं तमस्यैव
सहस्रशो यवनभटान्शिल्पिन्सूर्यमण्डलनिर्गमनान्तरमेव
तमपि विभिद्य परमं स्थानं गतः ।

अथ प्रतापस्य विपत्तिं प्रदर्शयति—गरलमिति कृष्णचित्तः—कृष्णे
चित्तं यस्य सः कृष्णाराधकः । यद्वा-कृष्णं पापाक्रान्तत्वात्कृष्णवर्णं चित्तं
यस्य सः तथा । यवनपतेः सहायः—सहामृतः, सेव्यः—ईर्ष्यायुक्तः प्रतापस्य
शिषोरासक्त्वाद्दकारशिष्यसंयुक्तः अर्धुदेशः—अर्धुदेशाधिपतिः

साम०—तद् दुर्गमभेद्यमिति श्रुतम्, तत्कथं मुक्तम् ?

रुद्र०—अभेद्यमिति मत्वा हताशाः सर्वे यवनसेनिका यदा परा-
वर्तितुमुन्मुरा अभवन्स्तदा अर्बुदेशो जलस्थानेषु विप-
प्रक्षेपणाय यवनसेनापतिं प्राबोधयत्, जलस्थानानि च
व्यजिज्ञपत् । तद्विषेण शतशः संभावितयोद्धारो विनष्टाः ।
वृषितं पुत्रमित्रकलत्रभृत्यादिकं चावलोम्य साश्रुनयनः
सोच्छ्वासं प्रतापोऽवदत् । हा दुर्दैव ! किमिदं ते दुर्वि-
लसितम् । कथमत्र वृषिताः स्थातुं शक्नुमः । हा एते
सहस्रयोधिनो योद्धारो विषेण विनष्टाः, सालुम्बादय-
स्तु न शोच्याः, यद् घोरान् रणे मरणां प्राकृतिकमेव ।
एते मदर्थमकारणमेव विनष्टा इति बहुतरमशुचत् ।

साम०—ततस्ततः—

रुद्र०—ततः किमन्यत् । तदेव जातं यद् दुर्दैवविलसितमासीत् ।

गरलममृतमध्ये कृष्णचित्तोऽर्बुदेशो

यवनपतिसहायः क्षेपयामास सेव्यः ।

नरपतिरथ हित्वा स्थानमेतत्प्रतापो

विपदि पदमनैषीदात्मघैर्यं बुभुक्षुः ॥ १० ॥

साम०—ततस्ततः—

रुद्र०—ततः क्रमशो यवनपर्वतकन्दरादुर्गाधित्यकोपस्यकादिषु
यवनैरधिकृतेषु मिल्लभटसुरक्षितः कलत्रपुत्रकन्यकोपेत-

अमृतमध्ये जलमध्ये गरल-विषं क्षेपयामास । विरुद्धवस्तुनोः सङ्करः पाप-
जनकः, तत्रापि अमृते विषप्रक्षेपस्तु महापापजनकः । अथ-गरलप्रक्षेपा-
नन्तर-नरपतिः-प्रतापः, एतत्स्थानं हित्वा-परित्यज्य आत्मघैर्यं बुभुक्षुः-
स्वकीयघैर्यं शत्रुमिच्छुः, विपदि-विपत्तौ पदमनैषीत् । “विपदि घैर्यमथा-
भ्युदये क्षमा” इति प्राकृतिकस्यात्मघैर्यस्य परोक्षणाय विपत्तौ पदं निन्ये ।
अतः परं प्रतापोपरि विपत्तिरामञ्छादिति भावः ॥ १० ॥

अन्दावदादिप्रधानमटैस्सहितः प्रतापो भृगवृकवराह-
शार्दूलमर्कटशृगालखड्गमार्जारगवयशल्यसंकुलं भृङ्ग-
तन्तुवायवृश्चिकमुजंगपिपीलिकाशतपदकर्णशलाकिकागौ-
घेरदंशमधुमक्षिकाविपस्तूपिकादिन्याप्तं पीलुपलाशपिप्पल-
प्लक्षपर्पटीप्रियालपट्टिपुष्पप्रियकपिच्छिलापूतिकपाटला-
प्रियङ्गुपिचुमन्दसघनं काकोलूककपोतकुक्कुटचटकखड्गज-
रीटयककोकिलरथाङ्गकुररमयूरतित्तिरिचकोरवर्तकादिवि-
विधपक्षिगणसंयुतं जावराप्रान्तीयपर्वतारण्यं प्रविवेश ।
प्रविशन्तं तं विहाय अहमकवरवृत्तपरिज्ञानाय आगरा-
नगरं गतवानासम् ।

साम०—एहि । आवां गत्वा प्रतापमुद्बोधयिष्यावः ।

(इति वदन्तो वने प्रविष्टौ ।)

पटोन्नयनम्

(इतः स्वातन्त्र्यदेवताराधनार्थं भ्राम्यन् शिलातले निषण्णः
प्रतापो विधेर्दुर्बिलसितं पत्न्याः साहससहिष्णुतादिगुणं पुत्रस्य सुता-
याश्च कष्टं विचारयन् किमपि शोचते । तदन्तरा एव सुतायाः
कुतोऽपि भयत्रासस्वरसमिश्रितं चीत्कारशब्दं शृणोति ।)

सृगेति । अत्र भृगादयः, स्वच्छन्दगतेः परिगम्यिनः, सर्वेऽपि नामतः
सुगमस्वान्न व्याख्यायन्ते । भृङ्गादयो यथास्थानस्थितावपि दर्शनादिना
भयजनकाः । वृश्चिकसर्पादयो भूशयने दर्शने दुःखजनकाः । प्राणपात-
काश्च । पीत्वादयः क्षुद्रफलजनकाः । पिचुमन्दो निम्बः । तथा काकोलू-
कादिदुष्टपक्षिगणसंयुतम् । आरण्यकः कुक्कुटो भक्ष्यः । तित्तिरिक्थोती
देशव्यवस्थया भक्ष्यमन्वयौ । अन्ये अमद्याः । एतेन तत्सारण्यस्य
शयनासनचक्रमयादिप्रतिबन्धकत्वं भोजनानुपलब्धेश्च दुःखजनकत्वं
सूच्यते । एवं महादुःखकारकेऽपि तस्मिन्नरण्ये प्रविवेश ।

रे इति । रे नीच ! अस्मत्सुतादुःखदायिन् ! तिष्ठ, त्वां शमनस्य-
यमराजस्य आलयं गृहम् आनये । त्वां हत्वा यमशब्दं प्रेषयामीत्यर्थः ।

प्रतापः—(खड्गमाकुप्य पावति ।)

रे नीच ! तिष्ठ शमन्तालयमानये त्वां

क्वैप प्रयास्यसि दृशोर्विषयागतस्त्वम् ।

शक्रोऽपि रक्षितुमथ क्षमते न च त्वां

नैवासि चेच्छ्रुतिभवात्समयादवध्यः ॥ ११ ॥

(किञ्चिद् गत्वा आकृष्टखड्गस्तिष्ठन्विलोक्ते ।) आः! विडालो-
ऽस्याः करपट्टिकामपाहरत् । ततोऽतिलुधिता रोदिति ।
(एतदवलोक्य प्रतापोऽपि देवदुर्विलसितं निन्दन् ऊर्ध्वमुखोऽवसन्
ब्रवीति) हा देव ! ब्राह्मणभक्तिपरायणस्य हीनदीनदुःख-
निवारकस्य ममापि शिशवः लुप्या रुदन्ति । हा भारत-
वसुंधरे ! सर्वतः सस्यसंपूरितायामपि त्वयि मदीयसुता
अन्तेन विना खिद्यन्ते । किं करोमि, वृथैवाहम्यरोऽयम् ।
किं तावत्सन्धिमेवाभ्यर्थयेयम् (इति विमृशन्नुपविशति । अथ
लुपतां सा बालिका पितुस्तङ्गे निष्य 'पितः ! करपट्टिका मे
देहि' इति कथयन्तो रोदिति । प्रतापोऽपि अघोर इव तिष्ठति ।)

एष त्वं दृशो प्रत्यासत्त्या मम दृशोर्विषयागतः, मम दृष्टिगोचरोभूतः
सन् क्व प्रयास्यसि ! अथ मदृष्टिर्विषयागमनानन्तरं त्वां शक्रोऽपि-देवा-
विदेवोऽपि रक्षितुं न च क्षमते । न शब्द एवकारार्थः नैव समथो भवति
अन्यस्य कथैव का, चेत्—यदि श्रुतिभवात्समयात् शास्त्रमर्यादोपगताद्
व्यवहारादवध्यो नैवासि । अवध्यत्वे एव मुक्तो भविष्यसि नान्यथे-
त्यर्थः ॥ ११ ॥

हा देवैति । ब्राह्मणभक्तिपरायणस्य ब्राह्मणभक्तिसमुद्भूतज्ञाताज्ञात-
सकलपापविशुद्धिद्वारा दुःखशोकाद्यभाजनस्य, हीनदीनदुःखनिवारकस्य,
यो हि हीनानां-दुर्बलानां दीनानां-भाजनवस्त्रपात्राद्यभावेन दुःखितानां
दुःखनिवारयति तस्येश्वरः स्वयमेव दुःखनिवारयतीति परमात्मना
दुःखनिवारयितुं योग्यस्य, ममापि पूर्वोक्तविशेषणद्वयविशिष्टस्य मम तु
नैवेतद् दुःखस्थानं भवितुमुचितमिति भावः । शिशवः बालकाः लुप्या

प्रतापः—(मनसि)

सालुम्बे निहतेऽप्यभिन्नहृदये मन्नासखे स्वर्गते

युद्धे चापि पराजये प्रतिदिनं भ्रान्तेऽद्रिकान्तारयोः ।

किं चान्यत्क्षुधितेऽप्यनेकदिवसं धैर्यं न यत्कम्पितं

खिन्ना स्वामयलां सुतां च रुदतीं दृष्ट्वाऽद्य तल्लीयते ॥१२॥

प्रकाशम्

भद्रे ! मा रोदोः, आनयामि ते करपट्टिकाम् ।

(अथ सा बाला पितृकुत्सङ्गादुत्पाय मातुरङ्के निपत्य—) मातः ! क्षुधि-
ताऽस्मि देहि मे करपट्टिकामिति कथयन्ती (पुनश्च स्वरेण रोदिति))

रुदन्ति । स्वल्पेनैव अग्नेन फलादिना वा येषां क्षुधा निवर्तते ते रुदन्ति
एतेनेदानीं स्वल्पमप्यन्नं फलं वा जैवोपलभ्यते इति सर्वथा अन्नदौर्लभ्यं
सूचितं भवति । विमृशन्निति । एतेन सन्धिकरणस्य अङ्कुरोद्भवः
सूचितो भवति । सुतायाः क्षुधया तथाभूतनिपतनाद्यवलोक्य अधीर इव
संजातः । एतेन सन्धिकरणविचारस्य फलवितत्वं सूच्यते ।

अथ मनसि यत्प्रतापो विचारयति सहर्शयति—सालुम्बे इति ।
सालुम्बाख्ये पितृस्थानीये धीरवीरसामन्ते निहतेऽपि—समामे मृतेऽपि ।
अभिन्नहृदये—अपृथग्भूतमनस्के मन्नासखे—मन्नासिहनामकमित्रे स्वर्गते
तस्मिन्नपि मृते इत्यर्थः । युद्धे—संग्रामे पराजये चापि, प्रतिदिनम्—दिनं
दिनं प्रति इति प्रतिदिनं प्रत्येकदिनमित्यर्थः । अद्रिकान्तारयोः पर्यंता-
रणयोर्मध्ये भ्रान्ते स्थानात्स्थानातरं गमने कृते सति, किञ्चान्यत् अन्य-
त्रिकमधिकं कथयेयम्, अनेकदिवसं—नैरन्तर्येण अनेकदिवसपर्यन्तम् ।
कालाप्यनोरत्यन्तसयोगे इति द्वितीया । क्षुधितेऽपि क्षुधया पीडितेऽपि—
मयि । यद् धैर्यं न कम्पितम्—अणुमात्रमपि न चलितम्, किन्तु पर्यंत-
वत्तिपरमासीत् तद् धैर्यम् अद्य खिन्ना—खेदयुक्ता, स्वां—स्वकीयामयलां
स्त्रियं रुदतीं सुता कन्यका च दृष्ट्वा लीयते—सर्वथा विनश्यति । तथा-
भूतदशायां यदणुमात्रमपि न कम्पितं तदेव सर्वथा हृदानीं विनश्यतीति
पूर्वदुःखापेक्षया हृदानीतनदुःखस्याधिकतरत्वं सूचितं भवति ॥ १२ ॥

प्रतापपत्नी—कन्यके ! मा रोदीः । दास्यामि ते करपट्टिकाम् ।
(इति कथयन्ती परिलालयति)

रुदः—(तामवलोकयन् । मनसि)

स्वाङ्के निधाय रुदती परिलालयन्ती

दृष्ट्वाऽथ रोदिति स रोदयते च सर्वान् ।

वृक्षा विहङ्गमगणाः पशवो विलोक्य

क्रोडां विहाय विलपन्ति वनोद्भवाश्च ॥१३॥

(पुनः प्रकाशम्)—आः पश्य । अस्य दुःखसहानुभूत्या एते उद्भिजतिर्य-
गादयो वनदेवतारश्च विलपन्ति ।

(प्रतापः—किञ्चिद्द्वयंमवलम्ब्य) मनसि

मिथ्याभिमानविधिना समुपार्जितं किम्

कान्तारदुःखसहनेन समागतं किम् ।

प्रतापः उच्चस्वरेण रुदत्याः कन्यकायाः परिलालनं कुर्वतीं
स्त्रियमवलोक्य यत्करोति तद्वर्णयति—स्वाङ्क इति । रुदती पूर्वप्रकरणतः
प्राप्तां कन्यकां स्वाङ्के—स्वकीयोत्सङ्गे निधाय—स्थापयित्वा परिलालयन्ती—
विविधप्रलोभनादिना प्रसादयन्ती स्वस्त्रियं दृष्ट्वा प्रतापः रोदिति । अथ
रोदनसमनन्तरमेव सः प्रतापः सर्वान् तत्रस्थितान्स्वकीयसहायकमित्थान-
दीन् रोदयते च । एतेन सम्बिभक्तसमये सर्वेषां दुःखोद्रेकात्प्रतिबन्ध्यमावः
शुचितो भवति । अथ तत्रत्योद्भिजतिर्यगादीनां कृत्यमाह—वृक्षाः स्थावरा
उद्भिजादयः, विहङ्गमगणाः श्रेण्डवाः पक्षिसमूहाः, पशवो हरिणादयः
विलोक्य विलपन्ति—ततोऽप्यधिकतरं रुदन्ति । क्रोडां विहाय—स्वानन्द-
दायिकां क्रोडां परित्यज्य वनोद्भवाः—वनजाता ऋष्यादयो वनदेवता वा
विलपन्ति—सातिशयं रुदन्ति ॥ १३ ॥

प्रतापः किञ्चिद्द्वयंमवलम्ब्य विचारयति—मिथ्येति । मिथ्या योऽभि-
मानविधिस्तेन, व्यर्थमेवाहंकारकरणेन किं समुपार्जितम्—किमर्जितम् ।
न किमपीत्यर्थः, व्यर्थमेवाभिमानविधानं मे जातम् । तथा कान्तारे-महा-
रूपे दुर्गमे वरमनि वा दुःखसहनेन किं समागतम् किमुपलब्धम् । न किम्-

ताम्यन्तमद्य विपिने स्वकुटुम्बवर्गं

शको न रक्षितुमतश्च करोमि सन्धिम् ॥१४॥

(इति विमृश्य कन्यकामवलोक्य ।) प्रकाशम्

कन्यके ! मा रोदीः,

आनयामि ते करपट्टिकाम् । नातः परं ते दुःखं भविष्यति ।

(इत्युक्त्वा मयी पत्रं चानाद्य सन्धिपत्रं लिखति । लिखित्वा स्वयं वाचयति ।)

दुःखादुद्विग्नचेताः क्षुधितनिजसुतां क्षीणकायं कलत्रं

दृष्ट्वाद्भ्रान्तः स्वरत्ताविधिमखिलमयं नैव कर्तुं समर्थः ।

तस्माद् युद्धाद्विरक्तः शमय रणकथां ज्ञायतां धृत्तमेतत्

सांगापौत्रः प्रतापो यवनपतिपदे याचते सन्धिचर्चाम् ॥१५॥

पीत्यर्थः तदपि व्यर्थमेव जातम् । अद्य विपिने-अरण्ये ताम्यन्तं दुःखमनु-
भवन्तं स्वकुटुम्बवर्ग-पुत्रकलत्रादिकं रक्षितुं-पालयितुं न शक्तः न समर्थो-
ऽस्मि । अतश्च-अस्मान्च कारणात्, पूर्वोक्तकारणद्वयादनेन तृतीयेन च
कारणेन सन्धिं करोमि । अद्यैव अकवरेण सह सन्धिं करिष्यामि । वर्त-
मानसामोप्याद्भविष्यदर्थे लट् ॥ १४ ॥

अथ प्रतापः सन्धिपत्रं लिखित्वा वाचयति । दुःखादिति । दुःखाद्
घनाद् घनान्तरे भ्रमणादिना उद्विग्नं चित्तं यस्य सः तथा, एतेन संधिरन-
स्याप्रामाण्यं सूचितं भवति । उद्विग्नचेतसा क्रियमाणं कार्यमप्रामाणिकं
भवतीति सिद्धान्तात् । तथा क्षुधिता-बुभुक्षिता चासौ निजसुता-आत्म-
दुहिता तां, क्षीणः कायो यस्य तत्कलत्रं स्त्रियं दृष्ट्वा उद्भ्रान्तश्च कर्तव्या-
कर्तव्यज्ञानशून्यः अकर्तव्येऽपि कर्तव्यतामापन्न इत्यर्थः । एतेनारि संघे-
रप्रामाण्यं सूचितं भवति । उद्भ्रान्तावस्थायां क्रियमाणं कार्यं न प्रमाणं
भवतीति नियमात् । एवं च उद्भ्रान्तोऽयं प्रतापः अखिलं-पूर्णरूपेण
रक्षाविधिं कर्तुं नैव समर्थः, पुत्रकलत्रादीनामात्मनश्च रक्षां कर्तुं नैव
समर्थ इत्यर्थः । यद्वा स्वेषां सर्वेषामात्मोपानाम् आर्याणाम् अखिलं पूर्ण-
रूपेण यथा स्यात्तथा रक्षाविधि-समस्तभारतस्य रक्षाविधिं कर्तुं नैव
समर्थः कष्टादुत्थात् अतिदुःखेन प्राप्यमाणे वस्तुनि वैराग्यान्वेदानी-

(इति वाचयित्वा गुहाय पत्रं ददाति । स पत्रं गृहीत्वा निष्क्रान्तः)

पटोन्नयनम्

(प्रतापानुचरो गुहः पत्रं गृहीत्वा राजसभायां दीवारिकेण सह प्रविश्य अकबरहस्ते पत्रं समर्पयति । अकबरश्च वाचयित्वा सर्वान् आह्वयति ।)

अकबरः — मृदंगपटहशुपिरमर्दलवल्लकीवादित्रातोद्यसंमिश्रिततत्-
वित्ततन्त्रोत्तल्लताल्लत्रुटितम् ऋषभगान्धारैवतपङ्-

मुत्साहाभावान्न समर्थोऽस्मीति भावः । तस्मात्कारणाद् युद्धाद्विरक्तोऽस्मि ।
यद्वा—त्वं युद्धाद्विरक्तः सन् रणकथा-संग्रामवार्ता श्रमय । भवद्भिरेतद् वृत्तं
शायताम् । सांगापौत्रः सांगेति स्वनामप्रसिद्धो वीरः, येन आमरणं स्वातन्त्र्यं
विहाय स्वपूर्वजैः सह सन्धिप्रार्थनं न कृतं, तस्य पौत्रः प्रतापः, एतेन
त्वत्पूर्वजैरनिष्पादितं कार्यं त्वया निष्पादितं भविष्यतीति सन्देशस्त्व
सूचितं भवति । यवनपतिपदे आदरसूचनार्थमन्ते 'पद' पदप्रयोगः ।
अकबरादिति पञ्चम्यर्थे 'अकपितं च' इति द्वितीया । सन्धिचर्चा-सन्धि-
विषयकविचारं याचते । यद्वा—यवनपतेर्यत्पदं स्थानं तद्विषये । आगरा-
पत्तनपर्यन्तं यदि मह्यं राज्यं दद्यास्तदा नाहमुपद्रोष्णामि । यद्वा—हे यवन !
पतिपदे स्वतन्त्रतया अस्मत्स्वामित्वस्वीकारेण मयि राजपदप्रयोगे अहं
स्वतन्त्र एव राजा इति भवतः स्वीकृतौ सन्धिचर्चा याचते । यदि मा
स्वतन्त्रं राजानं स्वीकरोषि तदा नाहं स्वद्राज्ये आक्रमिष्यामीति भावः ।
यद्वा—हे यवन ! पतिपदे—स्वामित्वविषयकस्थाने, कियत्पर्यन्तं ते आधि-
पत्यं कियत्पर्यन्तं च मे आधिपत्यमिति सोमानिर्धारणे इत्यर्थः, सन्धि-
चर्चा याचते ॥ १५ ॥

मायिकमिति । मायया कपटेन निर्मितम् । क्षणिकसंतोषार्थ-
मिति । यावत्पर्यन्तं वास्तविकतया वस्तुस्थितेः परिज्ञानं न भवति तावत्प-
र्यन्तमेव संतोषार्थम् । प्रतापः सन्धिं प्रार्थयते इति कृत्वा तत्र प्रसादार्थं
केनापि अनिर्दिष्टनाम्ना तद्वैरिणा यतस्तस्याकोर्तिः स्वात्प्रतापः पराजितः
प्रतापोऽपि मानसिंहादिवदधीनतां स्वीकरोतीत्यवशः प्रस्ताराय रचितम् ।

जादिशब्दसंपूरितं ध्रुपददीपकमलारभैरवभैरवीप्राभा-
तिकाशावरीवरवादिविविधरागसंमिश्रितं गानं मेवाह-
विजयमहोत्सवे आचर्यताम् । (इत्याशापयति ।)

(अत्रान्तरे प्रनायकस्य गतो पृथ्वीविहो महोत्सवान्तरायमूतः समुपतिष्ठते ।)

पृथ्वी०—महाराज ! कस्यायं महोत्सवः ?

अक०—(पत्रं दत्वा पृथ्वीविहो वाचयति ।)

पृथ्वी०—मायिकमेतत् । भवतः क्षणिकसंतोषार्थं तद्वैरिणा केनापि
रचितम् ।

अक०—तर्हि पुनः पत्रं लिखित्वा प्रत्येतु भवान्, तदनुचरश्च
तायदारक्तकरक्षितस्तिष्ठतु ।

पृथ्वी०—एवं भवतु को दोषः । (इति तपा करोति ।) (श्लेषेण तमु-
द्वाधयन्त्य लिखति ।)

आश्लेषपूर्वं यदतोऽपि चित्तं न निर्णयं मे समुपैति कञ्चित् ।
सन्धी विरुद्धस्य दलं नु किं वा तवेति नो वाक्यमयोत्तरेस्त्वम् । १६ ।

श्लेषेण इति । मद्गरलेपेणेत्यर्थः । अमद्गरलेपेणोन्मत्तं भटित्येव बुद्धौ
प्रतिभासते । तं प्रतापम् । किं लिखतीति दर्शयति—

अथ स्यामिदं सूचयन् स्फुटं सन्धिनिषेधाय प्रेरयति—आश्लेषे-
ति । आश्लेषः—आलिङ्गनं तदेव पूर्वं यत्र । आलिङ्गनपूर्वं यथा
स्यासंगा, अन्यत्र मद्गरलेपपूर्वं यदतः कथयतोऽपि मे-मम चित्तं कश्चि-
न्निर्णयं न समुपैति । विविदपि न निश्चिनोतीत्यर्थः । अथ पक्षद्वयं
दर्शयति—सन्धी-सन्धिविषये विरुद्धस्य कस्यचित्तव विरुद्धिणो दलं-
पत्रं नु । ॥ इति वितर्के । केनचित्तव वैरिणा स्वन्नाम्ना मायया निर्मितं
किम् ? किं वा अथवा तव इति नः अस्माकं वाक्यम् । अथ त्वम्
उत्तरेः । निषेधप्रेरणारक्षे । सन्धी विरुद्धस्य दलं नु किं वा तव, इति
प्रश्नः । अथ यदेहदशायां त्वं नो नैव इति वाक्यमुत्तरेः । ममेतत्पत्रं
नैवास्तीति रश्मुत्तरयेति भावः ॥ १६ ॥

सन्धावपूर्वत्रिदशानुभूतिः कान्तो यशोङ्गे कमलानुगन्धः ।

अमध्यमं भास्करमेव मत्वा द्रक्ष्यन्ति लोकाश्च सविस्मयं त्वाम् । १७।

किं किमस्त्वरित्रचित्रितविधिं नीरोजमालोकितुं

चेतो धावति तेऽपि चिन्तितपदस्थाने प्रतिष्ठास्थितेः ।

सन्धाविति । सन्धौ-अकवरेण सह सन्धिकरणे अपूर्वा-पूर्वमनुभूता त्रिदशाना-देवमुष्मानामनुभूतिः । यद्वा-अपूर्वा त्रिदशाना-तिस्रो दशा येषां ते त्रिदशा देवास्तेषामनुभूतिरनुभवः, देवादीनामिव सर्वदा सुखमेव भविष्यतीत्यर्थः । गङ्गे-अपूर्वः, नास्ति पूर्वं वणो यत्रेति अपूर्वः एवमूतो यस्त्रिदशशब्दः, त्रिदशशब्दे पूर्ववर्णस्य 'त्रि' इत्यस्याभावे दशा इत्येव शिष्यते । ततश्च दशायाः अशुभमहादिदशायां अनुभूतिरनुभवा भविष्यति । दशाशब्दोऽशुभदशायां कूटः । तथा कान्तो-मनोहरो यशोऽङ्गे-ते यशोऽवयवे कमलानां कमलपुष्पाणामनुगन्धः, सन्धिकरणानन्तरं कमलपुष्पाणां सुगन्धिरिव ते यशोऽवयवे सुगन्धिर्भविष्यति । तव यशसः प्रसिद्धिः प्रतिष्ठा च भविष्यति । पक्षे-कान्तः करय-क इत्यक्षरस्य अन्तो-नाशो यत्रेति । कमलानुगन्धः इत्यत्र ककारस्याभावे मलानुगन्ध इत्यवशिष्यते । ततश्च ते यशोऽङ्गे मलानुगन्धः-मलस्य अनुगन्धो भविष्यति । दयादाक्षिण्यादिविषये यशसः शांभनत्वेऽपि सन्धेश्च कातरतासूचनात् यशसः एकदेशो मलानुगन्धो जायमानः सर्वमपि ते यशो दूषयिष्यतीति भावः । तथा लोकाः अमध्यमं मध्यकालानवस्थितम् । मध्यकालिकसूर्यस्य दर्शनायोगात् प्राभातिकं भास्करमेव साक्षात्सूर्यमेव मत्वा तेऽप्रभावातिशययुक्तत्वात्सूर्यं एवापमिति मत्वा सविस्मयं साश्चर्यं यथा स्यात्तथा त्वा द्रक्ष्यन्ति अवलोकयिष्यन्ते । पक्षे 'अमध्यमम्' नास्ति मध्यमो मध्ये जायमानो वणा यत्रेति अमध्यमम् । मध्यवर्णरहितं भास्करम् भास्करमिदं मध्यवर्णस्याभावे मारमित्यवशिष्यते । ततश्च मारमेव मत्वा "त्वं पूयिष्या मार एव सजातो यवनस्थाधीनतास्वीकारादित्यादि मत्वा" लोकास्त्वा सविस्मयं साश्चर्यम् । कथमयं सागायौत्रः प्रभावशाली वीरः कातरः संजात इत्यतर्कितत्वात्सविस्मयं द्रक्ष्यन्ति ॥ १७ ॥

पृच्छामः किमु गौरवं तव कृतौ किञ्चिद्ब्रह्म स्वके
स्थान्ते वा त्रपथाऽवनम्रशिरसस्तिष्ठाम संसद्गताः ॥१८॥

लीलासंमीलितेन्दुं तुहिनहिमगिरिचौरताराञ्जकान्त—
ज्योत्स्नानागेन्द्रशङ्खजुनकुसुमसुधाजाह्नवीर्निह्वानाम् ।

तव पत्रं नैवास्तोति शब्दगौरवान्मयोक्तमिति सूचयन्सन्धिस्वोकारे इहा-
गमने पापोराजनमप्रतिष्ठा चेति व्यङ्ग्यरलोपायां सूचयति—किं किमरि-
ति । किमरि-भोगविलासपात्रमिश्रितस्वात्कर्तुं यन्वरिषं तेन चित्रितो-
विचित्रवर्णोपेतो विधिर्विधानं यस्य यस्मिन्वा तम्, नौरोजं-नौरोजनामकं
विपणिं 'मीनाभाजार' इति लोके । नौरोज इति द्वित्यकपिस्थादिवद्
रुद्विशब्दः । आलोकितुं-दृष्टुं चिन्तितपदस्थाने-अप्रिमत्पदस्थाने
प्रतिष्ठया-संमानेन स्थितिर्यस्य स तस्य । पक्षे-विन्ता संजाता यस्मि-
न्निति चिन्तितं, तच्च तत्पदं चिन्तितपदम्, तस्य स्थाने । विन्तायुक्ता-
धिकारस्थाने अप्रतिष्ठया स्थितिर्यस्य स तस्य । अप्रतिष्ठायुक्तां विद-
मानस्य तेऽपि तवारि एवं दद्यामागन्तुमित्यर्थः, तव चेनः धावति ।
इह सर्वेऽपि अप्रतिष्ठयैव स्थिता इति तवागमने त्वमप्यप्रतिष्ठया
स्थास्यसीति व्यज्यते । वयं पृच्छामः । तव कृतौ प्रतापः स्वाभिमानो
धीरो नायं सन्धिं प्रार्थयते इति तव कार्ये स्वके स्थान्ते आत्मचित्ते
किञ्चिद्गौरवं ब्रह्म धारयाम किमु । वा-अथवा संसद्गताः-अकथपरि-
पदि प्राप्ताः त्रपथा-जज्जथा, अवनम्राणि-किञ्चिन्नम्रोभूतानि, शिरांसि
मस्तकानि येषां ते तथामूलास्त्वन्तस्तिष्ठाम । मया अन्यथा शतं न तथा-
भूतो वीरः प्रताप इति स्वपक्षपराजयाल्लज्जयाऽवनतमस्तकास्तिष्ठाम ।
संप्रश्ने लोट् ॥ १८ ॥

पुनस्तस्य कीर्तिप्रलोभनेन श्लेषेण सन्धिं निषेधयति—
लीलेति । लीजया-अनायासेन संमीलितः-आञ्छादितः इन्दुरश्चन्द्रो यया
ताम् । यदीयधवलिम्ना सर्वमेव धवलं जातमिति चन्द्रो नावगम्यते । तथा
तुहिनं तुषारः, हिमगिरिः-हिमाचलः, चौरं-दुग्धं, ताराः-नक्षत्राणि,
अञ्जकान्तः-शुभ्रवर्णं मणिः, ज्योत्स्ना-चन्द्रिका, नागेन्द्रः-शेषः

ऊर्ध्वाधोमध्यभागे निखिलबुधजनैः स्तूयमानां स्वकीर्तिं
 हित्वा किं विप्रहृत्य त्रिदशसुखमनादृत्य यास्यात्मनाशम् ॥ १६ ॥
 (इति पत्रं लिखित्वा सर्वाङ्गभावयति । सर्वसमर्पणं सन्धिसमयेकमर्थं
 विधाय विश्वस्तेन स्वकीयानुचरेण राजचारैस्सह प्रतापसमीपं प्रेषयति ।
 ततो निष्क्रमितुं परिक्रामन्ति सर्वे ।)

पटोन्नयनम्

(इतश्चोद्दिग्धः शिलातले निषण्णः प्रतापश्चन्द्रावदिन्दोर- (इन्द्रपुर-)
 सामन्तसमन्वितश्चिन्तयति ।)

प्रतापः—अहो क्षणिकसुखलिप्सया मया महदनुचितमाचरितम् ।
 सन्धिप्रार्थनया सर्वं नाशितं सुमहद् यशः ।
 आः ! स्वहस्तेन पदयोः पातित्वा दास्यशृङ्खला ॥ २० ॥

ऐरावतो वा । शङ्खः प्रसिद्धः, अर्जुनः-अर्जुनवृक्षः, स च कविसमये
 शुभ्रवर्णतया प्रसिद्धः, कुसुमानि-पुष्पाणि, एतानि कविसमये शुभ्रव-
 र्णान्येव । सुधा-शुभ्रवर्णं लेपनद्रव्यम्, अमृतं वा । जाल्क्षी-गङ्गा,
 एतेषा द्वन्द्वे द्वितीयाबहुत्वे । ताः निहृषानामपनयन्तीम्, ऊर्ध्वाधोम-
 ध्यभागे त्रिभुवने, निखिलाः-समस्ता ये बुधजनाः-विद्वज्जनास्तैः स्तूय-
 मानां स्वकीर्तिं हित्वा-परित्यज्य त्रिदशसुखमनादृत्य देवसुखं परिभूय
 विप्रहृत्य-विप्रहाय आत्मनाशं किं यासि किमर्थमात्मानं नाशयसि ।
 तस्माद्विरोधो नैव कर्तव्यः, विरोधकरणे तव नाशो भविष्यतीति भावः ।
 पक्षे विप्रहृत्य-शरीरार्थं क्षणमद्भुतशरीरसुखार्थमात्मनाशं किं यासि,
 शरीररक्षार्थं क्रियमाणे सन्धौ पूर्वोक्तगुणविशिष्टयास्तव कीर्तेः नाशो
 भविष्यति, कीर्तिनाशे आत्मनाशः स्वत एव सिध्यति । संग्रामे स्वर्गप्रा-
 प्तेस्त्रिदशसुखप्राप्तिर्भविष्यति । 'इतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' इति संग्रामे
 मृतस्य स्वर्गप्राप्तिर्भवतीति भगवता गीतायामुक्तम् ॥ १६ ॥

अथ स्वयमुद्बुद्धः प्रतापः सन्धिप्रार्थनमनुचितं मन्यमानः कथयति-
 सन्धीति । मया सन्धेः प्रार्थना तया सन्धिप्रार्थनया सर्वमशेषं सुमहत्
 शोभनं-विपुलं यशः नाशितम्, सुमहदित्यसमस्तमेव । 'आः इति

(इति सोद्वेगमुच्छ्वसिति)

चन्दावत्—महाराज ! कुतोऽयमुद्वेगः, प्रतीक्षस्व तावत्किमयं सन्धौ कथयति ।

प्रता०—ममाभिमतानुरूपसन्धिस्वीकारेऽपि महदेव कष्टम् ।
सन्धौ समेतं नतकन्धराङ्गं

निरुद्धवीर्याहिमिवोच्छ्वसन्तम् ।

विलोक्य मां मानसमानभावाः

समागताः स्मेरमुक्ता भवेयुः ॥ २१ ॥

एतदनादरसहनान्मरणमेव श्रेयः (इति महतो दुःखान्पुनरुच्छ्वसिति)

इन्दोरसामन्तः—महाराज ! अलमुद्वेगेन ।

महासेदे । महादुःखम् स्वहस्तेन पदयोरात्मनः पदयोर्मध्ये दास्यशृङ्खला-
दासतायाः शृङ्खला पातिता ॥ २० ॥

स्वामिमतसन्धिस्वीकारेऽपि कष्टमेवेति दर्शयति—सन्धाविति ।
सन्धौ-सन्धिविषये, समेतं-प्राप्तम्-अकथपरिपदि यातम् । अत एव नतं-
नम्रोभूतं कन्धराङ्गं यस्य स तम् । सन्धिप्रार्थनया सन्धिकरणार्थं
गतमिति लज्जावनतमुखम् । अत्यधिकनम्रतायां कन्धरप्रदेशादवनतं
भवति । निरुद्धं वीर्यं पराक्रमो यस्य सः, तथाभूतश्चासौ अहिः-सर्वस्तमिव
उच्छ्वसन्तम्, रुद्धपराक्रमसंप्रवर्दीर्घोच्छ्वासं कुर्वन्तं मां विलोक्य-दृष्ट्वा
समागताः-समायां प्राप्ताः, मानेन-मानसिद्धेन समानो भावो येषां ते
तथा मानसिद्धवन्मम परिपन्थिनः, अथवा-मानसे-मनसि मानभावो
येषां ते तया । येषां हृदये मम संमानमस्ति । अथवा माने-मानविषये
समानभावो येषां ते । यथा वयमपमानितास्तिष्ठामस्तथा अयमपि मम
समान एव जात इति मानसमानभावाः स्मेरमुक्ताः-स्मेरमीपद्धास्ययुक्तं
मुखं येषां ते तथाभूता भवेयुः-मविष्यन्ति । संभावनाया लिङ् ॥ २१ ॥

इन्दोरसामन्तः प्रतापस्योद्वेगं परिहरन्सूचयति—यावदिति । भीम
भुजैः अतिशयितबलयुक्तत्वान्प्रयावद्देः भुजैर्बाहुभिर्विमर्दिता-वित्रासिताः

यावद्भीमभुजातिमर्दितगजाः संग्रामनिष्णातकाः

हस्तोद्धूतनिशातखड्गनिहतत्वद्दैरिवीरव्रजाः ।

जीवामो वयमत्र सन्धिकरणं तावन्न ते शोभनं

सन्ध्यर्थं निपतिष्यति स्वयमसौ श्लेच्छाधिपस्त्वत्पदे ॥२२॥

प्रता०—कुतोऽस्यावसरः ? मया च सन्धिप्रार्थनं कृतमेव ।

चन्दा०—महाराज ! अलं विचारेण ।

क्षणेनैव विधास्यामः सन्धेः सोपधिदूषणम् ।

रक्षणारक्षणे तस्य त्वदधीने च केवलम् ॥ २३ ॥

(अत्रान्तरे समुपतिष्ठते मिल्कराजो गुहः ।)

प्रता०—किमस्ति ।

गुहः—आगराण्यरश्चो पत्तं गहिष्ठण वीकाण्यरजुवराभस्त
आगरानगरात् यथं गृहीत्वा वीकानगरमुदराजस्य

गजा इस्तिनो यैस्ते तथा, इस्तिनामपि विश्वासकाः । तथा संग्रामे
निष्णातकाः सदैव संग्रामतत्पराः । तथा हस्तैः उद्धूता ऊर्ध्वमुत्थाप्य
कम्पिता ये निशातखड्गास्तीक्ष्णकरबालास्तैर्निहता विनाशितास्त्वद्दैरि-
वीराणां व्रजाः—समूहा यैस्ते । एवंभूता वयमस्मदादयो यावज्जीवामस्ता-
वत्पर्यन्तमत्र अकथरे अस्मिन्परतन्त्रताविषये या ते—तव सन्धिकरणं
शोभनं न, त्वया सन्धिर्नैव कर्तव्य इति भावः । असौ श्लेच्छाधिपः—
श्लेच्छराजः स्वयं सन्ध्यर्थं—सन्धिकरणार्थं त्वत्पदे निपतिष्यति । वक्ष्यमा-
णमकबरस्य सन्धिप्रार्थनं बीजरूपेण उपक्षिप्यते इति भावः ॥ २२ ॥

अथ चन्दावन्मन्त्री सन्धिप्रार्थनया उद्विजमान प्रतापं कथयति—
क्षणेनेति । वयं सन्धेः सोपधिदूषणम्, इदं त्वयानुचितमाचरितमित्या-
दिदोषारोपेण सन्धिच्छेदं क्षणेनैव—अतिस्वरूपेण कालेन विधास्यामः—
संपादयिष्यामः । तस्य सन्धेः रक्षणमरक्षणं च केवलं त्वदधीने—त्वदायत्ते
एव । यदि भवानिच्छेत्तदा सन्धेः रक्षा भविष्यति । यदि भवान्नेच्छेत्तदा
सन्धिश्शुद्धितो भविष्यति । तस्मात्सन्धिकरणेऽपि न किञ्चित्ते इतं
भविष्यतीति भावः ॥ २३ ॥

पुढवीसीहस्स अणुअरो आगच्छो । अम्हो तं पव्वयप्पंते
पृथ्वीसिहस्य अनुचर आगत । अह त पव्वेतप्रान्ते
ठावइत्थण तुम्हाण समीवम्मि पत्तो ।
स्थापयित्वा युष्माकं समीपे प्रातः ।

प्रता०—तं प्रवेशय ।

(ततः प्रविशति गुहेन सह पृथ्वीसिहानुचरः ।)

अनुचरः—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराज. । (इत्युक्त्वा पत्रं समर्पयति ।)

(प्रतापः पत्रं गृहीत्वा स्वयं वाचयति सर्वान् भावयति च ।)

प्रता०—अस्मदीयं सन्धिपत्रमिति संदिग्धमेव ।

इन्दोरसा०—अथ किम् ।

चन्दा०—इदमतिशोभनं जातम् ।

प्रता०—(पृथ्वीसिहस्य पत्रोत्तरं लिखित्वा सर्वान् भावयति ।)

युक्तमुद्दृष्टितं काले प्रेम्णा साधु त्वयोदितम् ।

अवेहि पत्रोत्तरणे क्रियां केवलमुत्तरम् २४ ॥

सर्वे—साधु साधु ।

(ततः पत्रोत्तरं गृहीत्वा निष्क्रामति पृथ्वीसिहस्थानुचरः ।)

प्रता०—(इन्दोरसामन्तं गुहं चाभिलक्ष्य आशापयति ।)

अथ प्रतापः पृथ्वीसिहाय पत्रोत्तरं लिखित्वा चन्दावदादीन्
भावयति । क्रियया यममिषेति साऽपि सप्रदानम् इति सप्रदानत्वाच्चतुर्थी ।
युक्तमिति । काले समुचितत्वसरे तत्र अकबरसभायां, सन्धिसमुल्लस्य
मम सन्धिकरणवेलायां वा युक्तमुचितमुद्दृष्टितम् । अकबरसभायामस्मत्कृ-
तसन्धिसल्लसने मम प्रतिबोधने वा साधु कथितम् । त्वं पत्रोत्तरणे
स्वकीयपत्रोत्तरविषये केवलं क्रियामस्मद्ब्यागारम् उत्तरमवेहि जानीहि ।
यो हि मम व्यापारो भविष्यति स एव सन्धिप्रार्थनाप्रार्थनयोरुत्तरं
भविष्यतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथ प्रतापः अकबरप्रजाया लुण्ठनाय आद्यापयन्नपवदति—

विप्रस्वं यज्ञकार्योद्धृतमथ गणिकां हीनदीनां च नारीं
बालां सोमन्तिनीं वा पतितमपि महारुग्णमन्धं क्षुधार्तम् ।
मूर्ध्नालं चाप्यवीरां शरणागतमथो सर्वथैतानि हित्वा

ज्ञात्वा शत्रोः प्रजानां सकलमपि धनं सर्वथा लुण्ठयध्वम् ॥२५॥

(ततः सर्वे उत्तिष्ठन्ति । चन्दावत्सहितः प्रतापः परिक्रामन् बने
प्रविशति । अन्ये निर्गच्छन्ति ।)

पटोलयनम् ।

(एवमाशापितास्ते पुर्तगालदेशाधिपतिना अकबराय प्रेषिताभ्युपा-
यनानि गुर्जरमार्गे लुण्ठयन्ति । पुर्तगालाधिपतिं गृहीत्वा कथयन्ति ।)
इन्दोरसा०—रे पुर्तगालीय ! कस्मादिदमानीतम् ? केन कस्मै
च प्रेषितम् ?

विप्रस्वमिति । तत्र परिगणयति-विप्रस्य-ब्राह्मणस्य स्व-धनम्, अकबर-
प्रजाया अपि ब्राह्मणस्य धनं, तथा यज्ञकार्योद्धृतम्-अनेन द्रव्येण यज्ञकार्यं
मविध्यतीति बुद्ध्या निष्काशितं यद् द्रव्यम्, अश्वघासादिवपष्ठीतत्पुरुषः ।
तथा गणिकां वेश्यां, वेश्याया धनमग्राह्यमिति स्मृत्यादौ प्रतिषेधात् ।
तथा हीनां-हीनजात्युद्भवां, दीनां-दुःखितां च नारीं स्त्रियम् । एतेन
हीनजात्युद्भवाया एव दीनस्त्रियाः प्रतिषेधो नत्वन्यासाम् । तथा पतित-
मपि जातिवहिष्कृतम्, महारुग्णं-कुष्ठादिमहारोगाक्रान्तम्, तथा अन्ध-
दृष्टिरहितम् । क्षुधार्तं-क्षुधापीडितं क्षुधानिवर्तकमात्रद्रव्योपेतम् ।
मूर्ध्नालं-मूर्छोपेतम्-तथा अवीरां-पतिपुत्ररहिताम्, 'अवीरा निधतिमुता'

अथ प्रताप अकबरप्रजाया लुण्ठनाय आज्ञापयन्नपवदति—

विप्रस्य यज्ञकार्योद्धृतमय गणिका हीनदीनां च नारीं
बालां सीमन्तिनीं वा पतितमपि महारुग्णमन्ध क्षुधार्तम् ।
मूर्च्छालं चाप्यवीरां शरणगतमथो सर्वथैतानि हित्वा

ज्ञात्वा शत्रोः प्रजानां सकलमपि धन सर्वथा लुण्ठयध्वम् ॥२५॥

(तत सर्वे उत्तिष्ठन्ति । चन्दावत्सहित प्रताप परिक्रामन् बने
प्रविशति । अन्ये निर्गच्छन्ति ।)

पटोन्नयनम् ।

(एवमाज्ञापितास्ते पुर्तगालदेशाधिपतिना अकबराय प्रेषिता-युपा-
यनानि गुर्जरमार्गे लुण्ठयन्ति । पुतगालाधिपति गृहीत्वा कथयन्ति ।)
इन्दोरसा०—रे पुर्तगालीय ! कस्मादिदमानीतम् ? केन कस्मै
च प्रेषितम् ?

विप्रस्यमिति । तत्र परिगणयति विप्रस्य ब्राह्मणस्य स्व-धनम्, अकबर-
प्रजाया अपि ब्राह्मणस्य धन, तथा यज्ञकार्योद्धृतम् अनेन द्रव्येण यज्ञकार्यं
मविध्यतीति बुद्ध्या निष्काशितयद् द्रव्यम्, अश्वघासादिव प्रणीतपुरुष ।
तथा गणिका वेश्या, वेश्याया धनमग्राह्यमिति स्मृत्यादौ प्रतिषेधात् ।
तथा हीना-हीनजात्युद्भवा, दीना-दुःखिता च नारीं स्त्रियम् । एतेन
हीनजात्युद्भवाया एव दीनस्त्रिया प्रतिषेधो न-वन्त्यासाम् । तथा पतित-
मपि जातिवहिष्कृतम्, महारुग्ण-रूष्ठादिमहारोगाक्रान्तम्, तथा अन्ध-
दृष्टिरहितम् । क्षुधार्त-क्षुधापीडित क्षुधानिवर्तकमात्रद्रव्यापेतम् ।
मूर्च्छाल-मूर्च्छपेतम्-तथा अवीरा-पतिपुत्ररहिताम्, 'अवीरा निष्पत्तिमुता'
इत्यमर । तथा शरणगतम्-अह त्वदीयस्त्वमेवास्माकं नातेति बुद्ध्या
शरणं प्राप्तम्, एतानि 'त्यदादितः शेषे पुनपुसकतो लिङ्गवचनानि'
इत्येकशेषे 'पुनपुसकपोस्तु परत्वा-नपुसक शिष्यते' इति नपुसकलिङ्गता ।
एतानि पूर्वोक्तानि हित्वा-परित्यज्य सकलमपि शत्रोरकबरस्य प्रजानां
धन ज्ञात्वा सर्वथा लुण्ठयध्वम् । बखपात्रादिक सर्वमपि लुण्ठितव्यमेक
वसना एव ते विधातव्या इति भावः । ज्ञात्वेत्युत्तेयंदकपरप्रजाया धनं
न स्यात्किञ्च केनापि तद्दाराया प्रेषित स्यात्तत्रैव लुण्ठितव्यमपि तु
नत्परित्याज्यमेवेति तात्पर्यायं ॥ २५ ॥

पौतंगा०—पुर्तगालदेशादिदमानीतम् । पुर्तगालराजेन भारतेश्व-
राय प्रेषितम् ।

इन्दोरसा०—साधु साधु । को नाम भारतेश्वरः ?

पौत०—अकबरः ।

इन्दोरसा०—नहि नहि भ्रान्तोऽसि । इदानीं भारतेश्वरः
सुगृहीतनामा महाराणाप्रतापः, तेन तवोपायनानि
गृहीतानि । अथ गच्छ यथेच्छस्थानम् ।

(इति स निर्गच्छति । पुनस्ते अरस्ये प्रविशन्ति ।)

(पटोन्नयनम्)

(इत आगरानगरे परिपशुषिष्टः सामन्तादिपरिवृतोऽकबरश्चिन्तयति ।)

अकबरः—मानसिंह ! कथमद्यापि पृथ्वीसिंहानुचरो नायातः ।

किं नाम केनापि तद्वैरिणा मम क्षुण्णसुखसंपादनाय
मायिकमेवेदं कृत्यं विहितमिति सत्यं स्यात् ।

मान०—संभाव्यते चैवमपि, परंतु पृथ्वीसिंहानुचरस्यागमना-
नन्तरमेव निश्चेष्ट्यामः ।

अक०—मानसिंह ! तावत्प्रतापदूतमानय, निश्चेष्ट्यामः केन कुतः
स्थानात्पत्रं दत्तम् ।

(मानसिंहः स्वयं गत्वा आरक्षकाधिपतिमाहूय तेन सह अकबर-
सविधे प्रविशति ।)

आरक्षकाधिपतिः—जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—कुत्र प्रतापदूतः ?

आर०—स च तस्मिन्नेव दिवसे त्वदीयाज्ञापत्रेण निष्काशितः ।
(इत्याज्ञापत्रं दर्शयति ।)

अक०—संवदन्ति मददीयानीवेमान्यक्षराणि । परं कस्येयं माया
स्यात् ?

मानसिंहादयः—(दृष्ट्वा) बाढं भवदीयानीवेमान्यक्षराणि । बाढं
स चतुरो मायिकः ।

(ततः प्रविशति स्वानुचरसहितः पृथ्वीसिंहः ।)

पृथ्वी०—जयो योगमायायाः । (इत्युक्त्वा यथास्थानमुपविशति ।)

अक०—(सस्मितम्) किमुक्तं त्वदीयेन मेवाढाधिपतिना प्रतापेन ।

(पृथ्वीसिंहः प्रतापपत्रं दर्शयति ।)

अक०—('अवेहि पत्रोचरखे क्रिया केवलमुत्तरम्' इति वाचयन्सर्वान् आचयति ।)

मानः—नैतावताऽवगम्यते, सन्धिक्रिया विरुद्धक्रिया वा ।

(अत्रान्तरे प्रविशति संभ्रान्तः पुर्तगालराजस्य दूतः ।)

दूतः—(वदन्) महाराज ! लुण्ठितोऽस्मि ।

अक०—कस्त्वम् ? कथं लुण्ठितोऽसि ?

दूतः—महाराज ! पुर्तगालराजेन भवदर्थमुपायनोभूतानि बहु-
मूल्यानि रत्नानि प्रेषितानि, तानि गुर्जरप्रान्ते लुण्ठाकाः
'भारतेश्वरः प्रतापस्तस्यैवेदमुपायनम्' इत्युक्त्वाऽलुण्ठन् ।
(अत्रान्तरे पुनः प्रविशन्ति श्रेष्ठिनः प्रजाजनाश्च ।)

श्रेष्ठिनः—हा ! हताः स्मः वयं सर्वे लुण्ठिताः ।

अक०—कैः ?

श्रेष्ठिनः—स्वस्वामिनं भारतेश्वरं मन्यमानैः प्रतापानुचरैः ।

प्रजाजनाः—हा ! हताः स्मः, अस्माकं सर्वस्वमेव लुण्ठितम् ।
वयमेकयसना एव कृताः स्मः ।

अक०—कैः ?

प्रजा०—आत्मनः प्रभुं प्रतापं भारतेश्वरं मन्यमानैर्भिल्लमीणा-
दिभिः ।

पृथ्वी०—(अकबरमभिलक्ष्य) महाराज ! मन्ये तदुत्तरणे इयमेव
क्रिया स्यात् ।

अक०—अथ किम् । इयमात्रमणक्रिया तदुत्तरम् । मन्ये तत्पत्रं
न तेन लिखितम् ।

पृथ्वी०—एतद्व्यापारेण तु इदमेव निश्चीयते ।

अक०—मानसिंह ! धिक् त्वाम् बहुतरङ्गव्यनाशेऽपि नायं
प्रतापस्त्वया धृतः । मिथ्याभिमानिना त्वया किं तस्य
कृतम् । त्वदर्थे एव मया तेन सह वैरं विहितम् । त्वं
निस्सर यावत्प्रतापस्त्वया न निगृह्यते मेवाडाद् वा न
निस्सार्यते तावत्परिषदि न प्रवेष्टव्यम् ।

(मानः किञ्चिद्बहुमभिलषन् स्थितः ।)

अक०—(सक्तो धम्) याहि याहि निस्सर ।

मानः—(मनसि) ज्ञातिद्वेषफलमिदमनुभूयते । यत्सर्वसमक्षं शुनक
इव तिरस्कृतोऽस्मि ।

(प्रकाशम्) धैर्यं दधातु भवान् ।

अक०—लुण्ठाकैः सकलोऽस्मदीयविषयः संत्रास्यते दुर्जनैः ।

सर्वस्वं ह्रियते प्रजाजनगतं जीवान्परत्नहम् ।

एकेनैव वनेचरेण निहतः पन्थाः सुखस्योदये

राज्यं पूषोमराजकं कृतमतो धैर्यं मयि स्यात्कथम् ॥२६॥

अकवरो धैर्यस्य नायमवसर इति दर्शयति—लुण्ठाकैरिति । दुर्जनै
रुद्धैर्लुण्ठाकैः प्रतापानुचरैर्मिल्लमीशाजात्युद्भवैः सकलः—समस्तः अस्म-
दीयविषयः—अस्माक देशः संत्रास्यते—उद्देश्यते । ते सकलमस्मदीयदेश-
मुद्देजयन्तीत्यर्थः । प्रजाजनगतं प्रजासविधे यद्विद्यमानं तत्सर्वस्व—सर्वं
घनं ह्रियते—हठाद् गृह्यते । अहमरत्नं प्रजाधनस्य रत्नामकुर्वन् सन्
जीवामि अहा इत्याश्चर्यम् । राशोऽयं धर्मः । यदि प्रजाधनं रक्षितं न
प्रभवति तदा लुण्ठाकानां सम्मुखं गत्वा रणे म्रियेत, राज्यं वा परित्यजेत् ।
धर्मस्तदकुर्वन् न ह जीवामीत्याश्चर्यम् । एकेनैव प्रधानभूतेन प्रतापेनैव
एवकारोऽन्ययोगव्यञ्छेदको न तु बहुभि तत्रापि वनेचरेण अरण्य-
वासिना । एतेन अतितुच्छत्वं तस्य सूच्यते । सुखस्य उदये, प्रजाया मम
च सर्वेषामपि सुखप्रारम्भे पन्थाः मार्गो निहतः, येन मार्गेण सुखस्य
प्रारम्भो भवति स मार्ग एव नाशितः । एतेन सर्वथा सुखस्याभावः
सूचितो भवति । राज्यमस्मदीयं राज्यं पूर्णं सर्वतोभावेन अराजकं कृतम् ।

यः प्रतापं निगृह्णीयात्स मम राज्यलाभस्य दशमोशभागो
स्यात् । (पुनः किञ्चिच्छान्तः सन्) मानसिंह ! गच्छ त्वं
यथेच्छं साहाय्यमादाय प्रतापं तस्य पुत्रं कन्यकां स्त्रियं वा
निगृह्णीयाः ।

मानः—यदि मेवाहं परित्यज्य नासौ पलायते तदैवं हनिष्यामि,
ग्रहोप्यामि वा ।

अक०—एयमेव स्वयि संभाष्यते ।

(ततो निष्क्रामति सामन्तपरिवृतः प्रजाजनसहितो मानसिंहः पृथ्वीविदग्धः।)
(वीरवरेण मन्त्रिणा च समन्यतोऽङ्कवरस्तिष्ठति ।)

अक०—(मनसि) अयं पृथ्वीसिंहः प्रतापपक्षपातो, अतो मेवाह-
कन्यकामस्य पत्नीं स्ववशमानये । ततोऽयं तत्पक्षं विहाय
मम वरावर्ता भविष्यति ।

(प्रकाशम्) मया स्त्रीणां चातुर्यशिक्षणार्थं विपणिः
स्थापिता । तत्रैवं भवतु—

सकलविपणिमध्ये सर्वतः संचरेयु-

नवनवयसनाद्यैर्भूषिताः सद्भिभूषाः ।

•• विविधविषययाता योपितश्चैकभाषा

इति मम नवरोजः कामपूर्तिं विदध्यात् ॥२७॥

एवं विहितं यथैवं प्रतीयते अत्र राज्ये प्रजापालकः कोऽपि राजा नैवा-
स्ति । अतः अराजकताकरणात् मयि धैर्यं कथं स्यात् । नाहमस्यां
दशायां धैर्यं कर्तुं शक्नोमीति भावः ॥ २६ ॥

नासौ पलायते इति । एतेन षष्ठाङ्के वक्ष्यमाणो देशपरित्यागो
बीजरूपेण उपलक्ष्यते ।

अथ नवरोजाख्य (भीमाबाजार इति लोके) विपणौ जिगमिपुर-
कवरो मन्त्रिणमादिशति—सकलेति । नवनवयसनाद्यैः—नवातिनवैवंज-
भूषणैर्भूषिताः शोभिताः, तथा सती उत्तमा विभूषा नैपथ्यरचना यासां
तास्तथा विविधाः नानाविधा ये विपणा देशास्तेभ्यो याताः—आगताः,

अहमपि प्रच्छन्नवेपस्तत्राद्य गमिष्यामि ।

(मन्त्रिणः कथं-एवमेव ।)

वीरवरः — (तदभिप्रायमभिलक्ष्य) किमिदं चिकीर्षति भवान् ?

अन्तःपुरे स्वे सुमनोहराभी

रम्भोरुमिर्हाटककान्तिकाभिः ।

रम्भादिकाभ्योऽप्यतिशायिनीभिः

स्त्रीभिः कथं तुष्यति नो तवात्मा ॥ २८ ॥

अथवा विविधा ये विपया-वस्त्रताम्बूलमूषणादिविक्रयास्तथा जलानयन-संमार्जनादिकानि तत्र याताः-प्राप्ताः, वस्त्राभूषणादिसकलवस्तूनां क्रयविक्र-यादिकं स्त्रिय एव कुर्वन्तिवति भावः । एका एव भाषा यासां तास्तथा-भूताः देशभेदाद् भिन्नभाषा अपि ता एकभाषया भाषन्ताम्, एतेन तदुक्तं स्वेन, स्वोक्तं ताभिरवगतं स्यादिति तदभिप्रायः । योषितः-स्त्रियः, सकला-समस्ता या विपणिः-पण्यवीथिका तस्या मध्ये सर्वतः-सर्वतो-भावेन संचरेयुः, तत्र स्त्रिय एव संचरन्तु नच कस्यापि पुरुषस्य तत्र संचारोऽपि स्यादिति तदाशयः । इति अमुना प्रकारेण नवरोजो मम कामपूर्तिं स्त्रीणां चातुर्यशिक्षणाभिलषितम्, अथवा संभोगेच्छाविषयका-भिलाषपूर्तिम् । अथवा कामस्य-मनोभवस्य पूर्तिं-यथेच्छमनोभवतृप्तिं विदध्यात्-करोतु । एतेन अभिलाषातिशयो चोत्पत्ते ॥ २७ ॥

अथ वीरवलन्तदभिप्रायमवगत्य परस्त्रीसंसर्गात्प्रतिषेधते-अन्तःपुरे इति । सुमनसो-देवास्तेषां हराभिः, सौन्दर्येण देवानप्याकर्षयन्तोभिः, यासां सौन्दर्यमवलोक्य देवा अप्यभिलषन्ति । यद्वा-सुमनसः पुष्पाणि तासां हराभिः, स्वशोभया पुष्पाणि हरन्तीभिः, स्वकान्तिसमत्तं पुष्पशोभां नाशयन्तीमिरित्यर्थः । अथवा-सुष्ठु शोभनप्रकारेण मनसो हराभिः, अति-मुन्दरीमिरित्यर्थः । तथा रम्भा इव कदलीस्तम्भसदृशौ ऊरु यासां तास्तथा, हाटकस्य-सुवर्णस्य कान्तिरिव कान्तिर्यासां तास्तथा रम्भादिका-मपि । रम्भामेनकातिलोराभांमपि सौन्दर्यवत्त्वेन अतिशायिनीभिः अति-

अलं राजधर्माद्विरुद्धेन सुतामावृतुल्याभिः परस्त्रीभिः सह
व्यभिचारेण ।

अन्योपमुक्तां परकीयकान्तां भोक्तुं न ते धावतु चित्तवृत्तिः ।
उच्छिष्टभोजी खलु सारमेयस्तस्मात्परीवादपदं च मा गा ॥२६॥
अकं--धीरवर । राजधर्मपरिज्ञाने त्वं तावद्बाल एव । नैवविधेषु
कार्येषु राजधर्मः परिपन्थी भवति ।

शृणु तावद्राजधर्मे—

प्रजा पुत्रमिवेक्षेत स्वात्मानमिव पालयेत् ।

समासेनायमाख्यातो राजधर्मः पुरस्तव ॥२७॥

क्रान्तवतीभिः स्त्रीभिः तवात्मा-स्वदीयाचित्तवृत्तिः, स्वे-स्वकीये अन्तःपुरे
कथं नो दुष्यति । तथाभूताभिरतिमुन्दरीभिः स्त्रीभिः सह तवात्मा कथं न
दुष्टो भवतीति भावः ॥ २८ ॥

अथ परस्त्रीसंसर्गे घृणा निन्दा च दर्शयन् प्रतिषेधते-अन्येति । ते
तव चित्तवृत्तिः, अन्येन-अन्यपुरुषेण उपमुक्ता परकीयकान्ता-परस्त्रियम्,
अथवा-परकीया कान्ताम्, स्वकीयातिरिक्तामन्यस्त्रियम् । एतेन विनाश-
धीनतया कन्याया अपि परकीयात्वम्, दुष्प्रसवत्तः कस्यचित्कन्यका च,
भोक्तुं न धावतु-उपभोक्तुं नैव गच्छतु । अन्योपमुक्तभोक्तृत्वे घृणा
प्रदर्शयति-उच्छिष्टभोजी-अन्योपमुक्तपरित्यक्तभोगी, सारमेयः-शुनकः ।
खलु इति निश्चये । सारमेय एव उच्छिष्टभोजी भवति, नान्य इत्यर्थः ।
तस्मात् परीवादपदम्-आक्षेपस्थानं मा गा । लोकास्त्वा सारमेय कथ-
यिष्यन्तीति भावः ॥ २९ ॥

अथाकबरोऽन्यदोषं स्वीकृत्य केवलं राजधर्माद्विरुद्धतां निरस्यति ।
नत्र राजधर्मस्वरूपं प्रदर्शयति-प्रजामिति । प्रजा पुत्रमिव ईक्षेत, यथा
पुत्रकष्टे उद्विग्नः सन् शीघ्रमेव तन्निवृत्त्यर्थमुपायं करोति एवमेव प्रजा-
कष्टेऽपि शीघ्रमेवोपायं कुर्यात् । स्वस्य आत्मानमिव पालयेत् । दुष्काल-
समये भोजनादिदानेन तां पालयेत्, कष्टं च न दद्यात् । अयं राजधर्म-
स्तव पुरस्तवाग्रे मया समासेन-संक्षेपेण, आख्यातः-कथितः । राजधर्मं
एतदेव तत्त्वमिति भावः ॥ ३० ॥

किञ्च—ईतावापत्तिकाले च प्रजायाः पालनं चरेत् ।

व्यसनाद्भयतो रक्षेदेष धर्मो महीपते ॥३१॥

अन्यच्च—धर्मादर्थं न वा कामं बाधयेत् विचक्षणः ।

धर्मकामौ न चार्थेन कामाद् द्वौ नेति निर्णयः ॥३२॥

अपिच—धर्मादर्थं विचिनुयादर्यात्कामं च साधयेत् ।

कामो मनोऽनुकूलः स्यात्स्वर्गेऽस्माच्च परं किमु ॥३३॥

पुनराह—ईताविति । ईतौ—अतिवृद्ध्यनावृष्ट्यादिसमये आपत्तिकाले आपत्तिरूपेण चौराग्निमयादिसमये प्रजायाः पालनं चरेत्—अन्नवसनादि-साहाय्यवानादिना प्रजाया रक्षणं कुर्यात् । व्यसनात् द्यूतमद्यादिव्यसना-दिभ्यः भयतो व्याघ्रादिमयाच्छत्रुभयान्च रक्षेत् प्रजाया रक्षां कुर्यात्, एष महीपते रामो धर्मः, एष राजधर्म इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

पुनः राजधर्मे धर्मार्थकामानां व्यवस्थामाह—धर्मादिति । विचक्षणः—उत्तमविवेका राजा धर्मात् अर्थं न बाधयेत्, न च कामं धर्मात्काममपि न बाधयेत् । नैवं प्रकारेण धर्मे आसक्तः स्यात् येन अर्थसाधककार्यमेव दिनश्येत् । नापि नितान्तं कामं परित्यज्य धर्ममेव सेवेत् । किन्तु अर्थ-कामावबाधयित्वैव धर्मं सेवेत् । एवमर्थेन धर्मकामौ न बाधयेत् । नैवार्थ-लिप्सया अधर्मेण अर्थोर्गाजनं कुर्यात्, तथा कामस्य व्यवसायत्वादर्थ-लिप्सया काममपि न परित्यजेत् । तथा कामाद् द्वौ पूर्वोक्तौ धर्मार्थौ न बाधयेत् । अयमर्थः—न च कामलिप्सया धर्मविरुद्धं भगिन्यादिगमनं कुर्यात् । नापि कामेन सर्वथा अर्थं नाशयेत् इत्येष निश्चयः । सकल-शास्त्रसिद्धान्तसिद्धोऽयमर्थ इति भावः ॥ ३२ ॥

अथ पुनस्तत्प्रकारमाह—धर्मादिति । धर्मात् अर्थ—द्रव्योपार्जनं विचिनुयात् । पुण्यावचयमिव द्रव्योपार्जनं कुर्यात् । यथा पुण्यावचयमिव पुण्यवृत्तिं न नाशयति, एवमेव धनमवचिन्वन् धनिनं न नाशयेत् । यतः पुण्यमिव पुनरपि धनं दद्यात् । विचिनुयात्सर्वेभ्यः किञ्चित्किञ्चिद् गृह्णी-यान्नचैकत एव सर्वं गृह्णीयादित्यर्थः । एवमर्थात् कामं—कार्यं साध-येत् । कामो मनोऽनुकूलः मनसः अनुकूलो मनोऽनुकूलः स्यात्, यत्र

मन्त्रिन् ! त्वं गत्वा तथैवारचय । अहमपि यथावसरं
प्रच्छन्नवेपः संचरिष्यामि ।

वीरवरः—(नीचैः स्वरेण) नैवमवगच्छसि । यदा कस्या अपि
सावित्रीसमायाश्चण्डिकाया आयेत्तत्रियाया हस्ते
निपतिष्यसि तदैव राजधर्मं शिक्षिष्यसे ।

(इति वदन्निष्क्रान्तो मन्त्रिणा सह वीरवलः ।)

(अकबर एकाकी परिक्रामति ।)

पटोन्नयनम्

(अकबरः नयरोजे चण्डिकां पृथ्वीसिंहपत्नीं निग्रहीतुं दूतिकया
विमार्गेण स्वभक्षणेऽवरुणद्दि । ततः सर्वतः पिधीयन्ते कपाटानि ।)

चण्डिका—(मनसि) आः किमिदं जातम् । कथमहमवरुद्धाऽस्मि ।
अस्तु । संभाव्यते दुष्टनरपिशाचस्य नारकिणोऽकबर-
स्येदं कृत्यं स्यात् ।

(ततः प्रविशत्येकतः कपाटमुद्घाटयन्नकबरः ।)

अक०—एहोहि सुन्दरि ! मनोभवतापतप्तं
मां शीतलैः सुमसृणैः परितर्पयाङ्गैः ।

मनोऽभिरमते तदेव कार्यं कुर्यादित्यर्थः । अभिलापोपनीतं कार्यं साधये-
दित्यर्थः । अस्मात् एतस्माच्च परमधिकं स्वर्गं किमु-नातः परं स्वर्गेऽपि
किञ्चिदस्तीति भावः ॥ ३३ ॥

स्वर्गलक्षणं चेतत्—

यद्य दुःखेन संभिन्नं न च अस्तमनन्तरम् ।

अभिलापोपनीतं च तत्सुखं स्वप्नदास्पदम् ॥

अतो राज्यमुपलभ्य मनोऽनुकूल एव कामसुखोपभोगः कर्तव्य इति भावः ।
चण्डिका तन्नामा पृथ्वीसिंहपत्नी ।

अकबरश्चादृक्किमिस्ता प्रलोभयति-एहोहीति । हे सुन्दरि-सौन्दर्य-
युक्ते ! त्वमेहि एहि । अवश्यमिह मत्संकाशं प्राप्नुहि । त्वं मनोभवस्य-
कामस्य तापेन तप्तं-संतप्यमानं मां शीतलैः-शैत्यगुणविशिष्टैः, तापे शीतलं

दासस्त्वदीयमुखपद्ममसौ द्विरेफः

पातुं यदिच्छति ततोऽनुगृहाण मुग्धे ! ॥१३॥

पटोन्नयनम्

चण्डिका—(मनसि) आः ! कथमसौ पापात्मा मामाक्रमितुमभिलषति । अहमेनं नारद्विशं पापाचरणफलमनुभावयामि (इति विचिन्त्य सङ्घा आत्रम्य तमकवरं पातयति । अतिपुत्रिका निष्कारय तस्य हृदये स्थापयति ।)

(अकवरः आसन्नमृत्युमिवात्मानमवगत्य भयप्रस्तनपनो विह्वलः सन् दीनहारेण) मातः ! अनुगृहाण मुञ्च माम् ।

चण्डिका—आर्यस्त्रीणां सम्मुखं नैव परये-

स्नाभिः सार्धं नैव काङ्क्षां विदध्याः ।

धर्मात्मनां मातरस्सुर्मदीया

इत्थं द्रुपाश्चेत्ततस्त्यां त्यजामः ॥ १५ ॥

मुलजनकं भयतीति मुलजनने मुमगृह्यैश्चिह्नगैः अश्लैः-स्वकीयैरवयवैर्मु-
नोदरजङ्घादिभिः परितपंय । पुनः पुनस्तत्संगणैश्च धारमनयेत्यर्थः ।
दासस्त्वदीयपद्ममसौ द्विरेफः-नेपथ्यविशिष्टो राजाऽकवरो भ्रमरो
या त्वदीयमुगपन्नयदीय मुलमेव पक्षं त्वदीयमुगकमलं पादुमपरोष्ठं पातुं
मुक्तं मातिष्ठयं सुखितुं वा यद् यस्मात्कारणाविच्छति ततस्त्वस्मात्कारणात्
दे मुग्धे ! अद्यात्तत्संगणैर्गतामे मूढे इत्यर्थः । अनुगृहाण अनुमदं कुर्वि-
त्यर्थः ॥ १४ ॥

अथ सा अकवरेण प्रीतिं कारयति—आर्यस्त्रीणामिति । तम्
आर्यमन्त्रं वा । संमुखं नैव परये, मदगद-बुद्धयाऽपि ता द्रष्टुमिच्छां न
कुर्याः । स्नाभिः सार्धं काङ्क्षां नैव विदध्याः । इच्छन्तीमिरनिच्छन् विदध
आर्यस्त्रीभिः एव सत्संगतिविधिं विदधामति न कुर्याः । धर्मात्मां आर्य-
विदग्धरादाया आर्यः स्तुः । यद्विदग्धस्वदीया धर्ममात्रा भवन्तु ।
येतिथं द्रुपाः कर्तुं जकारस्य विगिरिदमनेन कथमेरातस्वां त्यजामः अमु-
नैव त्यजामः अन्यथा मात्यामः । वर्तमानसामोप्याहृष्ट । 'अरमदो
हरीश' इति बहुवचनम् ॥ १५ ॥

अक०—आर्यस्त्रीणां संमुखं नैव द्रक्ष्यामि । ताभिः सार्धं नैव काङ्क्षां विधास्ये । धर्मात् सर्वा आर्यस्त्रियो मे मातरः सन्तु । मां मुञ्चतु मातः ! (इति दीनमिव प्रार्थयते)

चण्डिका—गच्छ । मुच्यसे मृत्युमुखात् (इति अग्निपुत्रिकामुत्थाप्य पृथक् स्थिता सती निष्क्रान्ता ।)

अक०—(स्वाङ्गानि परिमृञ्चन्नुत्तिष्ठति । भयादितस्ततोऽवलोक्य)
(मनसि) आः ! साक्षाच्चण्डिका रुद्राणी कालीव प्रचण्ड-
कोपा वीरासा । बाढं मेवाढभूमेरेवार्यं प्रभावः, यद्देशजाः
स्त्रियोऽप्येवंविधा वीरा भवन्ति, तत्रत्येषु पुरुषेषु कीदृशं
शौर्यं स्यादित्यनिर्वचनीयमेवैतत् । अहो देवान्मृत्युमुखा-
न्मुञ्चोऽस्मि । (प्रकाशम्) नातः परं नवरोजमाग-
मिष्यामि । (ततो निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति भी महामहोपाध्यायमधुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके पञ्चमोऽङ्कः ।

आः बाढमिति । स्त्रीषु नाद्यावद्विपर्यन्तमेतादृशं शौर्यमवलोकितम्,
यद्येव दृष्टमनुमूतं च तद् बाढं निश्चयेन मेवाढदेशस्य भूमेरेव अयं प्रभावः।
इयं मेवाढदेशोऽग्नेति तद्भूमिप्रभावादस्यामेतादृशं शौर्यं जातमि-
त्यर्थः । स्त्रीपुरुषयोः शौर्यतारतम्येनाह । यद्देशजाः स्त्रियोऽप्येवंविधा वीरा
इति तासां तारतम्येन स्त्रीणामपेक्षया पुरुषेषु कियदधिकं शौर्यं भवतीति
पर्यालोचनाया मेवाढदेशोऽग्रेषु कीदृशं शौर्यस्यादित्यनिर्वचनीयमेवैतत् ।
वक्तुमशक्यमेवैतत् । तस्मादृश्यस्याभावान्नैवं वक्तुं शक्यते एतादृशं तेषु
शौर्यमिति भावः ।

सर्वे अकवरो दूतिप्रभृतयश्च ।

इति श्रीसर्वतन्त्रस्वतन्त्रमहामहोपाध्यायविद्यावारिधिमधुराप्रसादकृतौ
वीरप्रतापनाटके वैजयन्तीव्याख्याया पञ्चमोऽङ्कः ।

पष्ठोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(इहाधित्यकाया स्थितौ मन्त्रिसमन्वितः प्रतापश्चिन्तयति ।)

प्रता०—श्रूयते महता धनेन मानभृतयः सन्नहारोहन्ति ।

चन्दा०—मन्त्री—एवमेवैतत् ।

मानोऽपमानाद्धनलिप्सयाऽन्ये

स्वान्तेन न स्वान्तमपि स्मरन्तः ।

अन्वेपयन्त्यद्रिगुहान्धुशाखि-

प्राधित्यकोपत्यकयोर्मवन्तम् ॥ १ ॥

(ततः प्रविशति मुकुलितहस्तो निःश्वसन् गुहः ।)

गुहः—महाराज ! गहिञ्चो ।

महाराज ! गृहीतम् ।

प्रता०—किं मानः शाहवाजो वा ?

मानसिंह्यचत्सा 'मेवाड परित्यज्य यदि नासौ पलायते' इत्यादिनोप-
क्षितस्य पष्ठाङ्कस्वारम्भः कियते । अधित्यकाया पर्वतस्योरिभागे ।
'उपत्यकाद्वेरासन्ना भूमिरुर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । मन्त्रो मानप्रभृतीना-
मुद्योगं दर्शयति । मान इति । मानः—मानसिंहः, अपमानात्—अकबरकु-
ततिरस्काराद् हेतो, अन्ये शाहवाजप्रभृतयः धनलिप्सया 'य प्रताप
निगृह्णीयास मे राज्यलाभस्य दशमाशभाषो स्यात्' इत्यकवरप्रद-
र्शितधनलोभेन हेतुना, स्वान्तेन चेतसा स्वान्तमपि स्वस्य आत्मनः अन्तं
नाशमपि न स्मरन्तः न भावयन्तः यद्वा—स्वस्य अन्तः—पर्यवसानम्
यवनसाम्राज्ये अस्माकं कीदृश्यस्या भविष्यताति न स्मरन्तः । भाविफ-
लमचिन्तयन्त इत्यर्थः । अथवा—स्वान्तेन—चेतसा स्वान्त—चित्तं न स्मरन्तः
अमनस्का एव कार्यं कुर्वन्त इत्यर्थः । अद्रयः पर्वताः, गुहा देवखातस्था-
नानि, अन्धव-जलरहितकूरा, शाखिनो—विटपास्तेषु, अधित्यकाया-
पर्वतोपरिभागे, उपत्यकाया—पर्वतस्थासन्नभागे च भयन्तमवेपयन्ति-
यवेपयन्ति । एतेन निलयनस्यानवसरः सूचितो भवति ॥ १ ॥

गुहः—एहि एहि, अम्हायां गमणागमणमगो भाणसीहाईहिं
 नहि नहि, अस्माकं गमनागमनमार्गो मानसिहादिभिः
 अहिंफिओ । माणप्पहिइसरंखिया पलयकालियसमुद-
 अविहृतः । मानप्रभृतिसरंखिता प्रलयकालिकसमुद-
 णिणदसम णिग्घोसा चविन्दाभीमगढकोमलमीराइट्टा-
 निनदसमनिघोपा चविन्दाभीमगढकोमलमीरादिस्था-
 णेसु विअत्ता दुग्गयणपव्वयकन्दरारुक्खवसुहादिह-
 नेपु व्याप्ता दुर्गवणपवंतकन्दरावृच्चवमुधाधित्य-
 गुवच्चगासु सव्वओ पसरमाणा अगवरसेणा इओ
 कोपत्यकादिपु सर्वतः प्रसरन्तो अकवरसेना इतो
 णाइदूरे ठिआ ।

नातिदूरे स्थिता ।

प्रता—किं दैन्यं परिहाय पर्यतगतं शत्रोर्बलं नाशयन्
 नश्येयं किमु वा निलीय कुहरे कालं नयेयं पुनः ।
 किं वा मातृभुवं विमुच्य विपिने तिष्ठेयमात्महृते-
 र्यद्वा मित्रकलत्रपुत्रसहितो गच्छेयमन्यक्षितौ ॥२॥
 गुहुराज ! त्वमपि कथय, किमतः परं कर्तव्यम् ।

मानप्रभृतीति । मानसिहप्रभृतिभिः संरक्षिता । एतेन अनेकेऽप्र
 सेनापतयो बहवश्चात्र सेनाविभागा इति सूच्यते । तथा प्रलयकाले जातो
 यः समुद्रनिनदः समुद्रशन्दस्तेन समो निर्घोषो हरहरायमाणशब्दो
 यस्याः सा तथा । चविन्दाभीमगढकोमलमीरादिस्थानानि स्वस्थानानां
 प्रसिद्धानि तेषु व्याप्ता । अन्यत्सुगमम् । नातिदूरे स्थिता, एतेन शीघ्रमेव
 तदुपायकर्तव्यता सूचिता भवति ।

प्रतापस्तदुपायं परामृपन् कथयति—किं दैन्यमिति । किं दैन्यं-
 पर्यतादिपु पलायनादिकं परिहाय-परित्यज्य पर्यतगतं-पर्यतप्राप्तं शत्रोर्बलं
 सैन्यं नाशयन्-भासयन्, सेनाया वाहुल्यात्तत्रैव नश्येयम् । किमु वा
 कुहरे-महागर्तादिप्रदेशे, निलीय-अन्तर्हितो भूत्वा पुनः कालं नयेयं-
 कालधारनं कुर्याम् । किं वा मातृभुवं विमुच्य-त्यक्त्वा, विपिने-वने,

गुह —अहुणा इह ठिओ गहिओ हविस्सइ । अओ पव्वयञ्चाओ
अधुना इह स्थितो गृहीतो भविष्यति । अत पर्वतत्यागः
कर्त्तव्यो । जीवमाणो पुणो वि महाराओ विजिस्सइ ।
कर्त्तव्य । जीवन् पुनरपि महागजो विजेष्यते ।

मन्त्री—महाराज ! युज्यते चैवम् ।

प्रता०—तर्हि पर्वतावरोहणमार्गमादेशय ।

गुह —इदोऽवरोहन्तु महाराजाओ ।

इतोऽवरोहन्तु महाराजा ।

(इति सर्वेऽवरोहन्ति ।)

अमरसिंह --हा मातृभूमे ! नीतिवशात्स्वमधुना मुच्यसे

(इति वदन् रोदिति) हा वसु धरे ! पुनरपि मामनुग्र-
हीष्यसि ।

प्रता०पत्नी—अयि विश्वभरे पुणो वि सुमरिस्ससि । अणु

अयि ! विश्वभरे पुनरपि सुस्मरिष्यसि । अनु-

गगद्देण सिग्घ सकुडुस्स चेव इम जण समुवट्ठा

अद्देण शीघ्र सकुडुस्समेव इम जन समुत्स्थाप-

विस्ससि (इति रुदतो अवरोहति ।)

(यिष्यसि)

प्रता०—(पुन परावृत्त्य)

मातस्त्वदङ्कपरिवर्धितलालितोऽय

मुक्त्वा प्रयाति विषयान्तरमद्य मूढ ।

आत्महुते० आत्महुति विधाय तिष्ठेयम् । पञ्चत्रयेऽपि अनिष्टसमावनया
सिद्धातयति । यद्वा—मित्र च कलत्र च पुत्रश्च तै सहितोऽयचित्तो
सर्वथा अग्रचित्तस्य राज्ञ पृथिव्या देशे इत्यर्थः । गच्छेयम् । तत्र
शत्रोरगमनागमनाभावादित्यर्थः ॥ २ ॥

अथ प्रताप शुचा कथयति—मात इति । हे मात ! त्वदङ्के-त्यन्म
प्यभागे अथ प्रतापः परिवर्धित , लालितश्च । मातुस्त्वङ्गे सर्वकालिकी

किं युक्तमत्र किमु वा न च युक्तमेत—

ओ निर्णये मम मतिः कथमप्युपैति ॥३॥

(इति कथयन् प्रणमति । पुनः किञ्चित्परावृत्त्य सर्वे प्रणमन्ति ।)

सेनापतिः—त्वर्यताम् ! त्वर्यताम् ! दूरेऽस्माकं विश्रामस्थानम् ।
प्रता०—आः प्रचण्डः सहस्रभानुः सन्निहित इवासावुपतिष्ठते ।
सेना०—दारुणो भूमेः संतापः ।

पटोन्नयनम्

(सर्वे चलन्ति । ततः आगच्छति किञ्चिद् दूरे गायन्ती योगिनी ।)

योगिनी—धावत धावत भजत प्रतापम् ।

एनं धर्मकरणतो रक्षत सिन्धुशरणमुपयातम् ।

स्थितिर्न भवति, शैशवकिशोराद्यवस्थायामद्वाद् बाह्यभागे एव लालनपा-
लनादिकं भवति । तव तु अङ्गे एव सदैव परिवर्धितो लालितश्चेति
मातुरपेक्षयास्याः स्नेहातिशयः सूच्यते । अद्य मूढः—कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञान-
शून्यः । अशेत्यनेन सर्वकाले भक्तिसत्त्वेऽपि अद्य मूढः अयं प्रतापः
सुक्त्वा प्रत्यासत्त्या त्वां मुक्त्वा—परित्यज्य विषयान्तरम्—अन्यो
विषयो विषयान्तरम् अन्यं देशं प्रयाति । यद्वा—शौर्यादिमरणविषयादन्यं
स्वप्नाण्यरक्षारूप विषयं प्रयाति । किमित्येवं करोषीत्याह । अत्र कर्तव्य-
विषये किं युक्तम्, किमु वा न युक्तम्, एतन्निर्णये मम मतिः कथमपि
नो उपैति । एकपक्षस्वीकारे आक्षेपशालाविरोधादिना नैव निश्चयो
भवति । इदमेव कर्तव्यमिति निश्चेतुं नाहं शक्नोमीति भावः ॥ ३ ॥

गायन्ती योगिनी—इयं सैव गणिका तथाभूततपोवशाद् योगव-
शाच्च योगिनी संयुक्ता । किं गायतीति दर्शयति—धावतेति । भो
लोकाः यूयं धावत । कालातिपातो नैव कर्तव्य इत्यर्थः, सायंकाले सूर्यस-
न्धावे एव सन्ध्योपासनं कर्तव्यमिति सिद्धोऽर्थः । मुख्योऽर्थोऽप्येवमेव
व्याख्येयः । यूयं धावत प्रतापं प्रतापसिंहम्, अथ च प्रकृष्टस्तापः संतापो
यस्मिन्निति प्रतापः—सुषर्तं भजत—सेवत । सैनिकादिषु सहयोगेन
सन्ध्योपासनादिना वा । एनं प्रतापसिंहं धर्मकरणतः—दानधर्मात्, रक्षत-

लोकालोकविसर्जितनिजवसुमपरविषयमनुयातम् ।
रिक्तकरं शिखराधरभागे स्खलितपदाब्जनिपातम् ॥
पश्यत नीचयानमवगत्य क्रोधाकृत्यमिवेतम् ।
धूलिधूसरितमेनमनंहसमभितो नमत प्रयातम् ॥

सदायता कुरुत । पक्षे प्रेरणालक्ष्यो धर्मः ; वेदबोधितकार्यकरणेन यथा
'शहरहः सन्ध्यामुवासीत, स्वर्गकामो यजेत इत्यादिना बोधितस्य कार्यस्य
करणतः धर्मं सूर्यं रक्षत । कीदृशमित्याह । सिन्धोः सिन्धुदेशस्य शरणम्
उपयात-प्राप्तम् । अथ च सिन्धोः समुद्रस्य शरणमुपयातम् ।
पुनस्तमेव विशिनष्टि लोकेति । लोकाः-साधारणपुरुषाः, अलो-
कास्तदतिरिक्ता विद्वांसस्तेषु विसर्जितं-दत्तं निजमात्मीयं वसु-धनं
येन तम् । अन्यत्र-लोकालोकेषु-सर्वत्रेत्यर्थः, विसर्जिता निजा वसवो-
रश्मयो येन सः तम् । 'देवमेदेऽनतो रश्मी वसू रत्ने धने वसु' इत्यमरः ।
तथा अपरस्य न परः अपरस्तस्य अपरस्य स्वकीयस्येत्यर्थः । यदा-
अपरस्य-अन्यस्य विषयं देशमनुयातम् अनुगतं प्राप्तमित्यर्थः । 'नीचज-
नपदो देशविषयो नृस्वर्तनम्, इत्यमरः । यदा-अपरः-अन्यः सुदाति-
रिक्तः कालयापनरूपो यो विषयस्तम् अनुयातम् । अन्यत्र अपरः-
अनुगृष्टः समुद्रनिमज्जनरूपो यो विषयस्तम् अनुयातम् । यदा-अपरः
अन्यो यो विषयो-देशः अमेरिकादिदेशस्तम् अनुयातम् । पुनः किं विशिष्टं
मित्याह-रिक्तकरम् । रिक्तः द्रव्यशून्यः करो-हस्ती यस्य स तथा । अन्यत्र
करैः रिक्तः इति रिक्तकरः-किरणशून्यः । 'शत्रुदन्तादिषु परम्' इति
कर इत्यस्य परत्वम् । यदा-रिक्ताः-प्रकाशशून्याः, कराः-किरणा यस्य सः
तथा । पुनः किं विशिष्टम् । शिखरस्य शृङ्गस्य पर्वतोररिस्थितभागस्य
अधःभागे-अधःप्रदेशो, स्खलितः-विशृङ्खलितः, पदाब्जनिपातध्वरणस्था-
पन यस्य तं तथा । अन्यत्र-स्खलितः पदाब्जनिपातो यस्य तं तथा ।

पुनराह-युयं पश्यत । नीचस्य-यवनाधिरतोः-मेनानायकस्य शाह-
वाजस्य, यदा-स्वशातिद्वेषनीचकर्मकर्तृतया नीचस्य-मानसिंहस्य, यानम्
धारोक्षणम्, अवगत्य क्रोधाकृत्यमिव इतम्, इण् गतो-रत्तवर्णम्, प्राप्त-

अञ्जलिपूरितवसुभिरस्य हत दुरिताहितकुलजातम् ।
प्रविशति तमो विश्वतः कुरुते सदसद्भावविधातम् ॥

मित्यर्थः । मानसिंहावरोहणशानानन्तरमेव रत्नवर्णं प्राप्तमित्यर्थः ।
अन्यत्र नीचस्य-तमसः, यान-प्राप्तिम्, अन्यत्समानम् । पुनः किंरिति-
ष्टम् । धूर्त्या धूसरितम् रूपाखण्डवर्णोपेतम् । उभयत्र समानम् । अन-
हसम्-पापरहितम्, तथा प्रयात-गच्छन्तम्, एत-प्रतापम्, सायकाले
अस्तोन्मुख सूर्य च । अभित नमत-प्रणाम कुरुत । उपस्थानादिना सूर्यं
चाराधयत । तथा-अञ्जलौ पूरितानि यानि वसुनि-घनानि तै, अन्यत्र
वसुनि-जलानि तै । अस्य प्रतापस्य सूर्यस्य च दुरितानि इव अहिताः-
शनवस्तेषां कुलजात-कुलसमूहम्, यद्वा-कुले जात-शत्रुकुलोत्पन्न
जातिस्वादेकवचनम् । सर्वानपि शत्रुकुलोत्पन्नान् हत-नाशयत । अन्यत्र
सूर्याञ्जलिभिः अत्यन्तदुरितयुक्तत्वादभेदोपचाराद् दुरिता-पापिनो ये
अहिता-शनवस्तेषां कुलजात, हत-नाशयत । बहुतरङ्गव्यदानेन साहा-
य्यकरणात्प्रतापस्य शत्रुकुल नाशयत । अन्यत्र-सूर्यविपक्षिणो राज्ञसा-
न्नाशयत । सूर्याञ्जलिभिः सूर्यविपक्षिणो राज्ञसा नश्यन्ते इति पौराणिकी
कथाऽनुसर्षेया । पुनराह-तम-तम प्रकृतिकः धर्मविरोधित्वादन्यकार-
स्वरूप अकबर तमश्च विश्वतः-सर्वतः प्रविशति, तथा सदसद्भावयोधर्मा
धर्मयोर्विधात नाश कुरुते । वस्तुन अस्तित्वनास्तित्वयार्थानस्यैव नाशं
कुरुते इत्यर्थः । नहि गाढे तमसि किञ्चिदपि वस्तु अस्ति वा नास्ति चेति
शयते । स्व स्वकीय लोभसहित मान, लोभमपि मानमपीत्यर्थः अथवा
जातिरप्राणिनामित्येकवद्भाव लोभ च मान चेति द्वन्द्वः । अपसारयत-
दूरीकुरुत । लोभं त्यक्त्वा द्रव्यसाहाय्येन सेनासनाहं कारयत, मानं विहाय
अस्यानुगामित्वेन युद्धे सहयोगं कुरुतेति भावः । अन्यत्र-लोभम् अस्मि-
न्समये एतत्कार्यं कृत्वा घनमुपाजयिष्यामः अल सन्धोपासनयेति लाभ-
बुद्धिं परित्यज्य, अथ च मानम् कथं यय राजानो विशिष्टधनिनो वा
क्षुद्रब्राह्मणवत् सन्धोपासनं करिष्याम इत्यभिमानबुद्धिं विहाय । प्रताप-
प्रतापसिद्धिं प्रयोजयत-राज्यप्राप्तयेन सर्वोत्कृष्टतया वर्तमानं कुरुत, अन्यत्र-

लोभमानमपसारयत स्वं प्रद्योतयत प्रतापम् ।

नश्यति तत्र उदयते प्रतापः प्रणमत पुनरायातम् ॥ ५ ॥

(इति गायन्ती योगिनी हठादिव सर्वानपि प्रतापानुगामिनो विदधाति ।)

(ततः प्रविशति तद्गानेन प्रतापानुरक्तो विह्वलो भामागुप्तः ।)

भामागुप्तः—आ. ! क्व गतोऽसौ मे प्राणाधारः प्रतापः ?

क्वासौ मे प्रतिपालकः क्षितिपतिर्भूपालचूडामणि-

मां त्यक्त्यैव हहा प्रयाति विषये सिन्धो प्रतापः कथम् ।

किं स्यान्मे वसुभिः सुतेन किमु वा प्राणैश्च किं वा फलं

प्राणेशं यदि तं व्रजन्तमभितो नावर्तने स्यां क्षमः ॥ ६ ॥

प्रताप सूर्यं प्रद्योतयत—तमो विनाश्य उदितः कुक्षतः । पुनराह । तमः—
तम स्वरूप यवनशासन नश्यति—क्षीयते, प्रतापः उदयते, अस्य प्रारब्धस्य
अनुपदमेव उदयो भविष्यतीति वर्तमानसामीप्याल्लङ्घ्यम् । अन्यत्र—तमः—
अन्वकारो, नश्यति—क्रमशः क्षीयते, प्रतापः सूर्यं उदयते । पुनः आयातं
प्रतापः सूर्यं च प्रणमत-नमस्कुरुत इति ॥५॥

अथ योगिन्या वचनं श्रुत्वा विह्वलो भामागुप्तः कथयति—क्वासा-
दिति । मे—मम प्रतिपालकः—संरक्षकः, भूगलानां—राजा चूडामणि-शिरो-
रत्नसदृशः, असौ क्षितिपति-पृथ्वीपतिः प्रपारः कः । कुनास्तीत्यर्थः ।
हहा इत्यत्यन्तखेदे । प्रतापः मां त्यक्त्यैव सिन्धो विषये—सिन्धुदेशे कथं
प्रयाति । कथमेव गच्छतीत्यर्थः । मे मम वसुभिः—रहुतरघनैः, किं स्यात्-
किं भवेत् । न किञ्चिदनेन प्रयोजनं सेत्स्यतीत्यर्थः । वा—अथवा, सुतेन—
पुत्रेण किमु । तेनापि न किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः । वा—अथवा, प्राणैश्च
किं फलम्, तद्गमने सति प्राणा अरि निष्फला एव । 'तदेतद्विज्ञात्प्रेयः
पुनात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मात्प्रेया यदयमन्तरात्मा' इत्यात्मनोऽपि निष्फ-
लत्वे हेतुं दर्शयति—यदि व्रजन्त-गच्छन्तः प्राणेशप्राणनाथ तः प्रतापम्,
अमितः आवर्तने क्षम-समर्थः न स्यात्, तर्हि मे जीवनेनापि न फल-
मित्यर्थः । एतेन प्रतापस्य प्राणेशोऽप्यधिकप्रियत्वं व्यज्यते ॥६॥

(योगिन्याः संमुखमुपेत्य) अयि योगिनि ! योगचक्षुषा प्रतापं पश्यन्ती त्वमेव कथय, कुत्रासौ मे प्रतापः ?

योगिनी—पश्य । सोऽयं प्रतापोऽनेनैव मार्गोणोपगच्छति
(इति दूराद् दर्शयित्वा) 'अञ्जलिपूरितवसुभिरस्य हत'
(इत्यादि गायन्ती निःसृता ।)

भामा०—(राजपत्नीं पश्यन्)

आः ! सेयं मम भ्रातृतुल्या पूज्या महाराज्ञी ।
पश्योर्ध्वं पदमुन्नमय्य सहसा यान्ती कचिच्छार्करे
दीप्ताङ्गारमिवाङ्गुलीषु पतितं भ्रावाणुकं सुस्थिरम् ।
भूमेस्तापवशेन चञ्चलतरा निष्काशितुं चाक्षमा
स्थातुं न ब्रजितुं न च प्रभवति स्वामिन्यसौ विह्वला ॥ ७१ ॥
अयं प्रतापः

रोषारुणविशालाक्षस्तान्तस्वान्तः प्रसन्नधीः ।

विचारयन्निव हृदा मन्दं मन्दं ब्रजत्यसौ ॥ ८ ॥

अथ भामागुप्तः प्रतापपत्न्या गतो घर्मदुःखं दर्शयति—पश्येति ।
पश्य, कचिच्छार्करे—वातुकामयप्रदेशे पदम् ऊर्ध्वम् अत्यन्तम् उन्नमय्य
स्वकीयं चरणमत्यन्तमुन्नतं कृत्वा सहसा यान्ती—गच्छन्ती, असौ
स्वामिनी दीप्ताङ्गारमिव प्रचलदग्नेः अङ्गारमिव अङ्गुलीषु—अङ्गु-
लिमध्ये पतितं सुस्थिरं दृढतया तत्रैवावस्थितं भ्रावाणुकं—पाषाणकणिकां
भूमेस्तापवशेन अत्यन्तभूमिसंतापत् चञ्चलतरा अत एव निष्काशितुम्
अक्षमा, तन्निष्काशनं स्थित्यैव संभवति, चञ्चलतरस्य स्थितेरभावात् ।
एवं च विह्वला—अतिदुःस्ववशादुद्विग्ना असौ स्वामिनी न स्थातुं न च
ब्रजितुं प्रभवति । नैव समर्था भवतीति भावः ॥ ७१ ॥

अथ भामागुप्तः प्रतापमवलोक्य वक्ष्यति रोषारुणेति । रोषेण
अरुणे—रक्तवर्णे, विशाले—दीर्घे, अक्षिणे यस्य स तथा । तान्तं—लेदयुक्तं
स्वान्तं—मनो यस्य सः तथा । प्रसन्ना धीः—कर्तव्यज्ञानविषयिणी बुद्धि-
र्यस्य ह तथा । मनसः सेदयुक्तत्वेऽपि कर्तव्यविषये उत्साहसङ्गावादस्य

भामा०—(सहसोपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः(इति पादयोः पतति ।)
(सर्वे एकतो भूमा उपविशन्ति ।)

प्रता०—अहो कोशाध्यक्षो भामागुप्तः ! कथय, अपि क्षेमं ते
सपरिवारस्य ।

भामा०—(पादौ गृहीत्वा) भवता परित्यक्तस्य कुतो मे क्षेमं
स्यात् । (इति रोदिति)

(प्रतापः किञ्चिद्विचारयन्निव मौनमास्थितः ।)

चन्दा०—कोशाधिपते ! इदानीं कमलासंकोचवशादप्रतिपालित-
चतुरङ्गसैन्यचक्राः स्वातन्त्र्यदेवताराधनार्थं सिन्धु-
प्रान्ते जिगमिपवो महाराणाः प्रतापाः तदनुगामिनो
वयं च ।

भामा०....महाराज ! युष्मदीयकोशे चतुष्कोटिपरिमितं धन-
मस्ति ।

शौर्यशालित्वं द्योत्यते । असौ प्रतापः हृदा-मनसा विचारयन्निव मन्दं
मन्दं व्रजति । प्रायशो विचारदशायामेवमेव पुरुषश्चलतीति भावः ॥८॥

कमलेति । इदानीमस्मिन् काले आपत्तिदशायां कमलाया-जङ्घ्याः
संकोचवशात्, अप्रतिपालितो द्रव्यादिदानेन न स्वायत्तीकृतश्चतुरङ्गसैन्य-
चक्रश्चतुरङ्गसैन्यसमूहो यैस्ते एवविधा महाराणाः प्रतापाः । अथ चेदानीं
वसन्तऋतौ कमलानामसंकोचवशात् सिन्धुप्रान्ते तत्र कमलानां बाहुल्ये-
नोपलब्धेः स्वातन्त्र्येण तत्र कालयापनार्थम्, अथ च स्वतन्त्रताया
अधिष्ठायकदेवपूजार्थं जिगमिपवः-गन्तुमिच्छुकाः । 'सनाशंसमिच्छ उ.'
इति उपस्ययः ।

अथ भामागुप्तः स्वकोशद्रव्यपरिमाणं कार्यद्वारा प्रदर्शयति—
प्रोद्यदिति । प्रोद्यन्ती-देदीप्यमाना कान्तिर्वेषा तानि तयामूताति यानि
प्रहरणानि तैलसन्तः-शोभमाना गाढा-पुष्टाः उन्नताग्राः-उत्तुङ्गाः
स्फूर्जन्तः आस्फालने वज्रनिर्घोषमिव कुर्वन्तो ये भुजास्तेषां परिवृद्धाः

तेन

प्रोद्यत्कान्तिप्रहरणलसद्गाढपुष्टोज्ज्वलाग्रो-

त्तुङ्गस्फूर्जद्भुजपरिवृढा धैर्यशौर्योद्धरीणा ।

नव्योन्मीलद्यद्बहुलबलिनः सिद्धलक्षाः सहस्रं

पञ्चाशत्स्युस्तव भटगणास्त्रिशदब्दान् ध्वजिन्याम् ॥६॥

प्रता०—नाहं परकीयधनेन सैन्यं साधयिष्ये ।

भामा०—महाराज ! नैतत्परकीयम्, किन्तु युष्मत्कृपापात्रैरस्म-

दोयपूर्वजै राज्यकरसंचितं युष्मदनुचरैर्विलुण्ठ्यानीत-

मिति च सर्वमपि कोशागारे निहितमिति युष्माकमेव ।

सेना०—युज्यते चैवम् ।

चन्दा०मन्त्री—एतद्योष्माकीणमेव । एतेन पञ्चाशत्सहस्रैर्वारैर्यं

युगपदाक्रम्य सर्वमपि रिपुबलं नाशयिष्यामः ।

स्वरूपेनैव कालेन सर्वाण्यपि दुर्गाणि परावर्त-

यिष्यामश्च ।

प्रता०—एतद्वंशपरंपरोपार्जितमित्यस्यैव सर्वम् ।

स्वामिनः तथामृतभुजयुक्ता इत्यर्थः । तथा धैर्यशौर्ययोः उत् ऊर्ध्वं यथा

स्यात्तथा धुरा बहन्तीति धैर्यशौर्मोद्धुरीणाः, नव्या नवीनयुवावस्थोपेताः,

यद्वा-नव्य-नवीनं यद् उन्मीलद् बहुलबलं तदस्ति येषां ते । यद्वा नव्याः

उन्मीलन्तः उत्साहयुक्ता बहुलबलिनः अनेकसहस्रबोधिनाः । तथा सिद्ध-

लक्षाः, सिद्ध लक्षं येषां ते । अतिहृत्वाणशक्तय इत्यर्थः । एवभूता-

पञ्चाशत्सहस्र भटगणाः त्रिशदब्दान्-त्रिशदब्दपर्यन्तं 'कालाध्वनार-

स्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । तत्र ध्वजिन्या-सेनाया स्युः । पूर्वं दशसहस्रै-

रेव भटैर्युतो भवान् विजितप्राय आसीत्, इदानीं तु पञ्चाशत्सहस्रैर्भ-

टैर्युतो भवानवश्यं विजेष्यते इति भावः ॥ ६ ॥

युज्यते इति । सेनापतिभिर्विलुण्ठ्यानीतमित्यवगत्य युज्यते इत्यनेन

राज्ञः प्रतापस्यैवेदमिति समर्थयति ।

अथ भामा इतिकर्तव्यता बोधयति—यवनेति । यवनस्य-यवनराज्य-

स्य भवद्गमनानन्तरम् अधिपतौ-सर्वत्रैव प्राप्तौ सत्या विनाशे ध्रुवे-

भामा०—अस्माकं भवेदेतद्, युष्माकं वेति विवादः परिहीय-
ताम् । एतत्स्वातन्त्र्यदेवपूजार्थं भवत्पादे निधीयते ।
यदि भवानेतन्न स्वीकरोति तदाऽहमनशनेन प्राणा-
स्त्यज्यामि ।

यवनाधिगतौ ध्रुवे विनाशे

सुखपूर्वेण कथं न तं विदध्याम् ।

यदि धः करुणालवोऽपि शिष्टो

रिपुमास्कन्ध तदा प्रजा भजध्वम् ॥१०॥

मन्त्री—महाराज ! भवदर्थमेतन्माऽस्तु । परं विधर्मिभ्यः प्रजानां
धर्मरक्षार्थमेतद्दीयते । अयमपि भवदीय एव । अन्यथाऽयं
प्राणास्त्यज्यतीति स्वीक्रियताम् ।

प्रता०—(भामाशुभस्य बाहुं गृह्यत्वा) कोशाधिपते ! स्वातन्त्र्य-
देशताराधनार्थमेतत्स्वीकरोमि । एतेन मेवाडे चिरस्यायिनीं
स्वतन्त्रतां स्थापयिष्यामि ।

• भामन्—उमा या बलिना लता हरिपदे सस्ये युगे स्वाध्वरे
सिक्ता सा शिविना दयासलिलतच्छेतायुगस्यान्तरे ।

निश्चिते सति । न खलु तद्वाक्ये विधर्मिसंसर्गेण वयं जीविष्यामः इति
निश्चये सति सुखपूर्वम् तमात्मनो विनाशं कथं न विदध्याम् । अवश्य-
मेव सुखपूर्वेणैव अनशनादिना आत्मत्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । यदि धः—
युष्माकं करुणाया लवोऽपि अशुमात्रसम्बन्धोऽपि शिष्टः अस्ति । यदि
मादृशस्य जनस्य रक्षणे तव हृदये दयाऽस्ति तदा रिपुमास्कन्ध
युद्धोद्योगेनेति भावः, प्रजाः भजध्वं—सेवध्वम्, प्रजारक्षणे तत्सेवैवेति
भावः ॥ १० ॥

अयमीपति । अयमेतल्लक्षणे जनः ।

अथ प्रतापो स्तारूपकद्वारेण तद्दानं दर्शयति—उप्तेति । या दान-
स्वरूपा लता बलिना हरिपदे-विष्योश्चरणे स्वदेहस्यापि दानेन त्रिपदीमात्र-

कर्णः पल्लवितां विधातुमभवच्छक्तश्च तां द्वापरे
सेयं साध्वमृतैः कलौ फलवती भाम्ना त्वया साध्यते ॥११॥

मन्त्री—भामन् ! लोकोत्तरमिदं ते दानकर्म ।

यतः—लोके ख्यातिधिया ददाति कुशलः कश्चित्स्वकान्भावय-
न्तन्यः स्वर्गमुत्साय वेदविदुषे दत्ते स्वलाभेच्छया ।

राज्ञो रोपभिया परोऽपि ददते स्वोपायनं बोधयन्
द्वित्राः सन्ति नवा क्वचित्तव समा यच्छन्ति ये निःस्पृहाः ॥१२॥

पृथिव्या दानेन स्वाध्वरे-स्वकीययज्ञे सत्ये युगे उभा—वीजरूपेण आरोपिता,
सा शिविना—तन्नामकेन राजा त्रेतायुगस्य अन्तरे—त्रेतायुगमध्ये दया-
सलिलतः—दयारूपसलिलेन सिक्ता, कर्णो द्वापरे तां लतां पल्लवितां—
पल्लवयुक्तां च विधातुं शक्तः समर्थः अभवत्, सा इयं प्रत्यक्षतया विद्य-
माना दानरूपा लता अमृतैः अयाचितैः 'अमृतं स्यादयाचितम्' इति
मनुः । 'द्वे याचितायाचितयोर्व्यासं एवं मृतामृते' इत्यमरश्च । साधु सम्पद-
प्रकारेण कलौ भाम्ना त्वया फलवती—फलयुक्ता साध्यते । अधुना दान-
क्षता फलवती याता । बलिना सार्द्धं त्रिपक्षीमात्रपृथिव्या दाने सर्वं दत्तं,
परं तु सर्वस्वदाने पूर्वत एव नाध्यवसायः आसीत् । एषं शिविनाऽपि
स्वरूपेणैव कार्यं सेत्स्यतीति ज्ञात्वा स्वरूपं स्वमांसं ददता बहुतरं
स्वमांसं दत्तम् । कर्णोऽपि कवचकुण्डलादिदानेन स्वर्गमुत्साध्यवसाययुक्त
आसीत् । एवं तु अयाचितं सर्वस्वमेव ददातीति निलक्षणं सर्वोत्तमं ते
दानमिति भावः, अत एव त्वया दानक्षता फलवती कृतेत्यर्थः ॥११॥

अथ मन्त्री भामानं कथयति—लोके इति । कश्चित्कुशलः लोके—
संचारे, ख्यातिधिया—स्वप्रसिद्धिबुद्ध्या, स्वकान्स्वकान् भावयन् अयम-
स्मदीय इति चिन्तयन्नेव ददाति । अन्यः स्वर्गमुत्साय एतदानेन स्वर्गमुखं
भविष्यतीति स्वलाभेच्छया—आत्मलाभकाङ्क्षया वेदविदुषे विनाय दत्ते ।
दानफलस्यात्मगामित्वादात्मनपदम् । परोऽपि तदतिरिक्ताऽन्योऽपि राज्ञो
रोपभिया स्वोपायनं बोधयन् हृदमुपायनं दायते इति कथयमानः राज्ञे यद्वा
तदपि राज्ञो रोपभयादेव ददाति नतु स्पृहाशून्यत्वेनेत्यर्थः । तत्र समाः—तत

भामा०—इयं महतो भवतामनुकम्पा, यदेतेन सर्वानप्यस्मान्
विधर्मिण्यस्त्रायन्ते भवन्तः ।

प्रता०—सेनापते ! त्वं तावत्पञ्चाशत्सहस्राणि वीरभटान्सज्जी-
कृत्य पञ्चधा विभज्य आक्रमस्व । अमरसिंह ! त्वमपि
गुह्यसहितो स्लेच्छसैन्यं विनाशय । अहमपि तिर्यग्मार्गे-
णाक्रम्य मानं निग्रहीष्यामि ।

सेना०—यथाऽऽज्ञापयन्ति भवन्तः (इति तथा कर्तुं निष्क्रामति ।
अमरसिंहोऽपि उपमन्त्रिसहितो निर्गच्छति । प्रतापोऽपि मन्त्रि-
रक्षाया कलत्रादिकं परित्यज्य निष्क्राम्यति)

(पटोन्नयनम्)

(आगरायां मन्त्रिद्वितीयः स्थितोऽरुणरश्मिन्तपति ।)

अक०—मन्त्रिन् ! श्रूयते अद्यश्वः प्राणपण्येन मानः प्रतापं निग्र-
हीतुमभिलषति ।

मन्त्री—संभाव्यते अपमानभिया मानस्तथाऽऽचरितुं सन्नद्धः
स्यात्, परं तु प्रतापोऽपि प्रताप एव ।

क्वासौ प्रतापः क्व च यः प्रतापः

क्व मिल्लरक्ष्यः क्व बलं भटानाम् ।

क्व तस्य यत्नः क्व चमप्रयत्न—

स्तथापि निघ्नत्वमेयं न याति ॥ १३ ॥

सदृशाः 'तुल्यार्थस्तुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्' इति पट्टी । द्वित्राः-द्वौ
वा त्रयो वा इति द्वित्राः सन्ति नवा । द्वित्रेष्वेव सदेहः, अधिकानां तु
कथैव का ! ये निःस्पृहाः—सर्वथा आकाङ्क्षारहिता यच्छान्ति-ददति ।
नैकोऽपि स्वत्सदृशो निःस्पृहो दातेति भावः ॥ १२ ॥

मन्त्री प्रतापस्य साधारण्येऽपि लोकातिशायित्वं दर्शयति—क्वासा-
विति । असौ साधारण्योऽस्मदादिग्राह्यः प्रतापः क्व, यः युष्माकं प्रतापः
ऐश्वर्यं क्व । पूर्वमत्र अस्मावित्येकत्वेन तस्य तुच्छत्वम्, यः इत्यत्र बहुत्वेन
युष्मदैश्वर्यस्य लोकातिशायित्वेन च तुल्यतायामन्तरातिशयो बोध्यते ।
मिल्लेन मिल्लैर्वा मिल्लजातीयैर्वा रणकलाशून्यैरशितितै रक्ष्यः क्व ।

अक०—श्रूयते मेधाडं परित्यज्यासौ सिन्धौ प्रयात ।

मन्त्री—यद्येवं भवेत्तदा दूरोत्सारितस्तव कण्टकः स्यात्पर विजिगीषुणा बहुविधा प्रकारा भवन्ति । न जाने किमप्यस्य प्रयागे रहस्य स्यात् ।

(ततः प्रविशति मानसिंहः ।)

मान०—विजयतां विजयतां महाराजः ।

अक०—क्व गतोऽसौ प्रतापः ?

मान०—मेधाडं परित्यज्य सिन्धौ प्रयात इति श्रूयते ।

अक०—दूरोत्सारितः कण्टको विनाशित एव । यतः स्वयमसौ प्रचण्डतरमार्तण्डप्रखरकरोत्तापितस्य सलिलानुपलब्धि-विशुष्कतालुरसनाकण्ठोष्ठमुखविवरस्य पुत्रकलत्रादिस-फलकुटुम्बस्य नाशे चिनष्टो भविष्यति ।

मन्त्री—सर्वमपि युज्यते । परमसौ विजिगीषोरिव कदाचित्प्रकार-स्यादित्यपि सभान्यते एव ।

एकाकी स्वयं विहाय सहसैवाक्रम्य शत्रोश्चमू-

मुक्त्वा तां च पलायितो यदि भवेद् हृद्यं ततो मीयते ।

एतेन मुगमतया तस्य ग्राह्यत्वं सूच्यते । व युष्माकं भटानां-बोधानां बल-सैन्यं सामर्थ्यं वा क्व । एतदपि सामानाधिकरण्यं नैव मटते । अथ च तस्य एकाकिनं प्रतापस्य यत्नः क्व । व युष्माकं चम्वी सेनायां प्रयत्नः क्व । तत्र तु एकस्यैव यत्नः इह तु सेनायां इत्यनेनासत्यातसेनिकानां प्रयत्नः, तत्र तु यत्नः एव । इह तु प्रयत्नः, प्रकृष्टो यत्नः इति सर्वथा तद्ग्रहणं सुकरत्वं बोध्यते । व इत्यनेन सह चम्वी नित्यसाकाङ्क्षत्वात् देवदत्तस्य गुरुकुलमिति वक्ष्यमास । तथापि सर्वथा तद्ग्रहणस्य सुकरत्वेऽपि अयं प्रतापः निष्फलः व युष्माकमधीनता न याति । नाद्यापि त्वदधीनतामयं प्राप्नोतीति भावः ॥ १३ ॥

मन्त्री प्रतापस्य सिन्धौ गमने किञ्चिद्ग्रहणमेवेति दर्शयति—एकाकी-ति । कश्चिद्वीरः स्वयं-स्वसैन्यं विहाय ततो निष्क्रम्य सहसैव शत्रोश्चमू-

वीरः कातरवत्त्यजन्निजमुवं काञ्चिक्रियामीहते

दुर्ज्ञेयं विदुषो नटस्य कृतिवत्कृत्यं जिगीषोरिदम् ॥ १४ ॥

मानः—एवमपि संभाव्यते, परं तु प्रतापस्तु पलायित एव ।

मन्त्री—अहमभिलषामि, सत्याः सन्तु ते गिरः ।

(ततः प्रविशति सेनातः समायातश्चरः ।)

चरः—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—कुत्र प्रतापः पलायित इति कश्चिदुदन्तः समागतः ?

चरः—किण्णु खलु तस्स उदन्तस्स कहा, सन्वं चेव णट्ठं ।

किन्तु खलु तस्योदन्तस्य कथा, सर्वमेव नष्टम् ।

अक०—किं प्रतापकुदुम्बम् ?

चरः—एहि एहि तुम्हाणं बलम् ।

नहि नहि युष्माकं बलम् ।

अक०—किमसौ कथयति ?

चरः—सर्वं सत्तयं चेव कहेमि ।

सयं सत्यमेव कथयामि ।

अक०—केनास्मद्वलं विनाशितम् ?

चरः—ससेण्णेन पदावेण विस्सओ क्कमियं पुणो ।

ससैन्येन प्रतापेन विश्वत आक्रमितं पुनः ।

तुह चेव बलं सन्वं णासिअं खणमत्तओ ॥ १५ ॥

तव चेव बलं सर्वं नाशितं क्षणमात्रतः ॥ १५ ॥

माक्रम्य ताम् आस्कन्द्य पुनस्तं शत्रुसैन्यं च मुक्त्वा परित्यज्य यदि पलायितो भवेत् एवं दशा यदि भवेत् ततस्तदनन्तरं तदा वा हृद्यमनुमीयते । अस्त्यत्र किमपि रहस्यम्, यस्मादेवमसौ विदधातीत्यनुमीयते ।

वीरः—प्रतापः, कातरवत् निजमुवम्—आत्मपृथ्वीं त्यजन् काञ्चित् क्रियामीहते । विजिगीषोरिदं कृत्यं विदुषो नटस्य ऐन्द्रजालिकस्येत्यर्थः कृतिवत् दुर्ज्ञेयम् । दुःखेन प्रयत्नेन शत्रुं शक्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

अक० —(मानाभिमुखं पश्यन्) किमसौ ब्रवीति ? अये किमिदं सत्यं ब्रवीषि ?

चरः—सर्वं सच्चं चेव । कहां खु अम्हारिसो मिच्छा कहिस्सइ । सर्वं सत्यमेव । कथं खलु अस्मादृशो मिथ्या कथयिष्यति ।
(ततः प्रविशति वैरामसेनापतिप्रेषितधारः ।)

से० चारः—(सहसोपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः । हा सर्वेऽपि हताः । अकबर—कथम् ?

से० चारः—सहसा प्रतापसैनिकैराक्रम्य सर्वेऽपि ते सैन्यभट्टा विनाशिताः, न जाने कुतस्तदसंख्यातं सैन्यमाया-
तम् । (पुन रुदन् पादयोर्निपत्य) महाराज ! युष्म-
त्सेनापतेः पत्नी युष्माकं धर्मभगिनी सखीभिः
सहितैव प्रतापभटैर्निगृहीता ।

अक०—कथमिदमश्रान्यं शृणोमि ?

(स्वगतम्)

स्वसा मदीयैव करे रिपोर्गता गतैव मे मूर्तिमती यशस्विता ।
न चास्ति तस्याः पुनराप्तिकारणं जितोऽग्रहमेतेन निपातितः पदे ॥ १६ ॥
(प्रकाशम्) कथं सा निगृहीता ?

से० चारः—प्रतापभटैः सहसाऽऽक्रम्य सकले युष्मत्सैन्ये
विनाशिते आरक्षकरक्षिता सखीभिः समभागच्छन्ती
सेनापतेः पत्नी मार्गे एकाकिना गुहेनाक्रम्य अन्त-
रैव निगृहीता, आरक्षकाश्च विनाशिताः ।

अकबरः स्वहृदये विचारयति—स्वसा इति । मदीयैव नतु सम्बन्धि-
नोऽन्यस्य वा स्वसा—भगिनी रिपोः प्रतापस्य करे हस्ते गता । यद्वा—
मदीया स्वसैवेति सम्बन्धः । तथा च मे—मम मूर्तिमती साक्षान्मम
स्वसृरूपेण देहधारिणी यशस्वितैव गता । तस्याः पुनः आप्तिकारणं
पुनरागमनदेतुर्न चास्ति नैवास्तीत्यर्थः । एतेन कारणेन जितः अहं
पदे निपातितः, जितोऽग्रहं पदे निपातनात्सर्वथा पराजित एवेत्यर्थः ।
यद्वा—अग्रहमेतेन जितः, पदे निपातितश्च ॥ १६ ॥

अक०—(गुहं लक्ष्मीकृत्य आकाशे) साधु भिल्लराज ! साधु ।

कश्चिद्वेतनलामतो रणमुवं वीरः समागच्छति

क्षेमं चाभिलपन् स्वकीयममितो भूपात्परो वाञ्छति ।

अन्यः पूर्वसुखोपभुक्तविषयो भोगाशयैवेहते

कोऽन्यस्त्वत्सदृशः प्रभोः परमया भक्त्यैव यः सेवते ॥१७॥

(मनसि)

यद्वा सर्वमपीदमस्मद्दुर्विलसितस्य फलमुदयते ।

चिकीर्षते यद्दुःखितेन पूरुपस्तदेव तत्पापफलेन सृज्यते ।

परस्य वाञ्छन्नशुभं प्रहिं खनन् पतत्यसौ तत्र विधेर्विलासतः ॥१८॥

अथ अकवरो गुहं भिल्लराजं लक्ष्मीकृत्य कथयति—कश्चिद्वीरः ।
कश्चिद्वीरः वेतनलामतो—मासिकवृत्तिलामात्, रणमुवं—संग्रामभूमिं,
समागच्छति—योद्धुं प्राप्नोतीत्यर्थः । परः—कश्चिदपरश्च, अमितः—सर्वतो-
भावेन, स्वकीयं क्षेमम्—आत्मकल्याणं, भूपात्—राज्ञः सकाशात्, अभि-
लपन्—इच्छन् सन् रणमुवं वाञ्छति—तत्र योद्धुं गच्छतीत्यर्थः । पूर्वं प्रथमं
सुखेन उपभुक्तो विषयः सर्वविधोऽभिलाषो येन स तथादिषः अन्यः
कश्चिद्वीरो भोगाशयैव भोगतृष्णयैव रणमुवम् ईहते—तत्र संग्रामभूमौ
गन्तुं चेष्टते । त्वत्सदृशो—ऽन्यः कोऽस्ति यः प्रभोः स्वस्वामिनो राज्ञः
परमया—उत्कृष्टया केवलया वा भक्त्यैव रणमुवं सेवते । वेतनलामादि-
निरपेक्षः सन् यत्स्व संग्रामभूमिं सेवते एषा ते अलौकिकी स्वामि-
नक्तिरित्यर्थः ॥ १७ ॥

अथ स्वकीयं कर्म विचारयन् कथयति—चिकीर्षत इति । पूरुपः
यत्कर्म दुःखितेन—गपकर्मणा हेतुना, चिकीर्षते—अन्यस्मै कर्तुमिच्छति,
तदेव कर्म तत्पापफलेन—तस्य कर्मणः पापफलोदयेन सृज्यते—स्वत एव
उत्पद्यते इत्यर्थः । सुजिरकर्मको दैवादिकश्च । तदेव दृष्टान्तेन समर्थयते-
परस्य—अन्यस्य अशुभमनिष्टं वाञ्छन्—अभिलपन् प्रहिं—कूपं खनन् ।
अमुकः पूरुपः अत्र कूपे पततु इत्यभिलाषेण कूपं खनन् असौ कूरखनकः
पूरुपो विधेर्ब्रह्मणः प्रारब्धस्य वा विलासतः तत्र कूपे पतति । मया
तत्कलयग्रहणेन तज्जयाय प्रयत्नो विहित इति ममैव सेनागतेः कर्तव्यं
गृहीतमित्यहं पराजितश्चेति भावः ॥ १८ ॥

(पुनः स्मृत्वा) आः ! दारुणोऽपमानसंतापः ।

नो शान्तिः कथमप्युपैति मनसो दुःखं समुज्जृम्भते
चित्तं चोद्विजते त्रपाभरवशादात्मा क्षिप्तो लीयते ।

अस्मत्सैन्यपतेर्वधूः सतनया वन्यैर्यतो गृह्यते
तस्मादेव मया स्वकीयविजये बाञ्छा परित्यज्यते ॥१६॥

(पुनर्विमृश्य) अलं कातर्येण, तासांमुद्धारः कर्तव्यः ।

(पुनः) किमसौ मानस्तेनेदानीं मिलितः यन्मां प्रतारयन्
योग्यान्मे भटान्नाशयति, किं वा तद्गतिमयगत्य
स्वयमेव पलायितः ।

(प्रकाशम्) मानसिंह ! किमिदं जातम् ?

मानः—अस्मदागमनानन्तरं वार्षिकमण्डूकवन्नं जाने कुतस्त-
त्सैन्यं संजातम् ।

आः इत्यत्यन्तदुःखपरामर्शः । अपमानसंतापः दारुणः, अत्यन्त-
दुःखजनकः । तदेव दर्शयति—नोः शान्तिरिति । कथमपि आमोद-
प्रमोदादिना केनापि उपायेनापि मनसश्चित्तस्य शान्तिर्नो नैव उपैति
चित्तस्य शान्तिर्न प्राप्नोतीत्यर्थः । दुःखं समुज्जृम्भते—उद्वेगं प्राप्नोतीत्यर्थः ।
तथा त्रपाभरवशात्—लज्जाया आधिभयात्, आत्मा क्षिप्तो—पृथिव्या नाशे
वा लीयते—कथकहं मृतः स्यामिति विचारेण पृथिव्या लीनो भवती-
त्यर्थः । तत्र हेतुं दर्शयति—यतो यस्मात्कारणात् अस्मत्सैन्यपतेः
घौरामनामकस्य मम सेनापतेः वधूः सतनया—तनयया सहितेति सतनया
कन्यायुक्ता वन्यैर्वनचरैः प्रतापसैनिकैर्गृह्यते, तस्मादेव कारणात् मया
स्वकीयविजये बाञ्छा परित्यज्यते—अहं विजेष्ये इत्यमिलापः सर्वथा
परित्यज्यते । यः स्वपक्षिणः कलत्रमपि रक्षितुं न शक्नोति ए कथं
शत्रुं जेष्यतीति भावः ॥ १६ ॥

नोट १—‘लघयघमा इः’ इति मकारस्य हकारे, ‘कगचजतदपयवां प्रायो
लोपः’ इति पकारलोपे ‘शेषं संस्कृताद्’ इत्युक्तेः, ‘आद् गुणः’ इति गुणे
‘लाहोर’ इति सिद्धम् । यच्च ‘लवपुराल्लाहोर इति निष्पद्यते’ इति कैश्चि-
दुद्बुध्यते तत्तेषां प्राकृतव्याकरणानभिज्ञताया विज्ञम्भणमेव ।

(ततः प्रविशति लाभपुरादायातश्चारः ।)

चारः—जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—किमस्ति ?

चारः—महाराज ! लाभपुरसामन्तो युष्माकं परिपन्थी संजातः,
स चाक्रामन्नित एवाभिगच्छति ।

अक०—अपमानो मया पूर्वमश्रावि हृपदात्मना ।

इदानीं भूयते राज्यच्छेदोऽपि किमतः परम् ॥२८॥

कथय अन्यदपि यदनिष्टं स्यात्, हृदयमवलम्ब्य सर्व-
मपीदानीं श्रोतुं सन्नद्धोऽस्मि ।

(पुनर्विमृश्य)

सेनापतेराप्तकुटुम्बवर्गं पूर्वं रिपोः किन्तु समुद्धरेयम् ।

किं वा द्विषन्तं कलयेऽभियान्तं सामन्तमेनं खलु दण्डयेयम् ॥२९॥

परं नेदानीं कालातिपातः कर्तव्यः । उभयमपि संपादनीयमेव ।

अथ अकवरो राज्यस्य मध्ये एव समुत्पन्नं विद्रोहाग्निमाकर्ण्य कथ-
यति—अपमान इति । पूर्वं—प्रथमं हृपदात्मना मया पापणवदात्मानं
—विधाय अपमानः अश्रावि-भुतः । इदानीम् अधुना राज्यच्छेदोऽपि
भूयते । लाभपुराधिपतिः स्वतन्त्रो जात इति सावन्मात्रं विच्छिद्यत इति
भावः । अतः परं किम्—अतः परमधिकमनिष्टं किम् । न किम-
पीत्यर्थः ॥ २९ ॥

पुनर्विमृश्य कथयति—सेनापतेरिति । पूर्वं—प्रथमं, सेनापतेः घैराम-
नामकस्य सेनानायकस्य, आप्तं—श्रेष्ठं व्यभिचारादिदोषशून्यं, कुटुम्बवर्गं-
कलत्रसुतादिकं, रिपोः सकाशात्समुद्धरेयम् । किन्तु इति वितर्के । किं वा
द्विषन्तं—द्वेषं कुर्वन्तं कलये-संग्रामाय अभियान्तम्—अभिमुखमागच्छन्तम्
एनं—लाभपुरसंबन्धिनं सामन्तं दण्डयेयम् ॥२९॥

उभयमपि संपादनीयमेवेति सिद्धान्तः ।

अथ अकवरः शाहवाजनामानमपरं स्वसैनिकं समाज्ञापयति—ससूनु-
मिति । सूनुना—पुत्रेण सहितं, मदेन—अभिमानेन दुर्विदम्बम् आत्मशौर्या-
भिमानिनं, मलिग्लुचं—चौरं, द्विषन्तं—मया सह द्वेषं कुर्वन्तं, खलप्रियं—

वीरप्रतापनाटके

समुत्ता ससखीमेनामस्याः स्वामिसविधे
रत्न। सा स्वकीयजनविरहिता रात्रावेकाकिनी तिष्ठतु ।

वृत्तः—

पुण्ड्रान्तां निर्जने सञ्चरन्ती
वदिरसि च रजन्यामन्यगेहे वसन्तीम् ।

पुनिरतन्तैः स्वां शोभनां साधयन्ती
ददति पिशुनलोकास्त्वन्यथैवाक्षिपन्ते ॥ ३ ॥

३ हेः—~~वदिरसि~~ वदिरसि देवः (इति निष्क्रान्तः ।)

(वृत्तः प्रतिशति प्रधानसेनापतिः ।)

सेनापतिः—जन्तु उच्यते महाराजः ।

प्रजाः—विदेतुं हिन्दवसिष्ठम् ?

सेनापतिः—न हिन्दवसिष्ठते । चित्रपुरदुर्गं विहाय सर्वाण्यपि
दुर्गाणि भवतामाधिपत्ये समागतानि । सर्वेष्वपि दुर्गेषु

भवतां स्वजाः समारोपिताः ।

मन्त्री—चित्रपुरदुर्गविजये कियत्कालं प्रतीक्षितव्यम् ?

सेनापतिः—अहो, तन्नन्तरमेव वयं चित्रपुरदुर्गं विजेष्यामहे,
परन्तु नैराशिनो वत्साहवतो चास्माकं सेना ।

परन्तु नैराशिनो वत्साहवतो चास्माकं सेना ।
परन्तु नैराशिनो वत्साहवतो चास्माकं सेना ।
परन्तु नैराशिनो वत्साहवतो चास्माकं सेना ।

अह रात्रौ स्वप्नरहिततासाः स्थितिं प्रतिपेक्षयति—परपुरुषेति ।
परपुरुषेति—पुरुषः, वदन्—परस्व—शत्रोः पुरुषः अथवा परेः—
उपरागस्वामिन्नेति पुरुषः वीर्यांशुक्राम् । निर्जने—जनसंघादिरहिते
स्थाने वसन्ती, परपुरुषेः सह वदिरसि—स्वगेहा-
अन्यगेहे—अन्यस्य

(ततः प्रविशति शाहबाजः)

शाह—जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—त्वं यथेच्छं सैन्यं सज्जीकृत्य प्रतापं निगृहीयाः ।

ससूनुमेनं मददुर्विदग्धं मलिम्लुचं क्षीणबलं द्विपन्तम् ।

खलप्रियं याचकवद् भ्रमन्त निहत्य तस्य प्रमदां हरध्वम् ॥२२॥

संभावयाम्येवं कृतौ साम्यसंपादने स्वान्ते शान्तिः स्यात् ।

मानसिंह ! त्वमपि स्वसैन्यं सज्जीकृत्य लाभपुरसामन्त-

मुपशमय, अहमपि देहलीपत्तने राज्यस्थानपरिवर्तनं

विधाय अनुपदमेव सज्जितसैन्यः समेप्यामि ।

मन्त्री—महाराज ! कस्मादिदं राज्यस्थानपरिवर्तनं क्रियते ?

अक०—कदाचिद्विष्टः प्रताप आकामन्ननार्यमाचरेत् ।

मन्त्री—इदं तु नैव संभाव्यते, परं तु अनिष्टसंभावनया पूर्वत-

स्तथा करणे न काचित्क्षतिः ।

(ततो मानप्रभृतयस्तथा कर्तुं निष्कामन्ति ।)

अक०—दौषारिक ! अहमिदानीं विश्रान्तिमभिलषामीति विश्रा-

न्तिस्थानमादेशाय ।

दौवा०—इदो आगच्छतु महाराजो ।

इत आगच्छतु महाराजः ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति श्रीमहामहोपाध्यायमधुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके पष्ठोऽङ्कः ।

खलाना-दुष्टानां प्रियं, खलः प्रियो यस्येति वा । याचकवद्-भिक्षुकवद्,
भ्रमन्तम्-इतस्ततो गच्छन्तम्, एन-प्रताप, निहत्य तस्य-प्रतापस्य, प्रमदा-
स्त्रिय, यूय हरध्वम् । अत्र आदरार्थत्वाद्वहवचनम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायमधुराप्रसादकृतौ वैजयन्तीटीकायां

पष्ठोऽङ्कः समाप्तः ।

सप्तमोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(इहोपत्यकायां मन्त्रिद्वितीयः स्थितः प्रतापः परामृषति)

(ततः प्रविशति श्लेच्छराजसेनापतिपत्नीमादाय उपसेनापतिसहितो गुहः ।)

उपसेनापतिः—

याऽस्माकं करपञ्जरे निपतिता त्वद्वैरिसेनापतेः

कान्ता कान्तपदारविन्दवदना बन्धूकविम्याधरा ।

खेलचञ्चलखञ्जरोटनयना कुन्देन्दुमन्दस्मिता

सेयं त्वच्चरणगाता कृतिविधावाक्षां समुद्रीक्षते ॥ १ ॥

प्रतापः—अलं परदारवर्णनेन ।

शिशोदियाकुजोद्भूतः परकान्तां न वीक्षते ।

परापवादसदृशं तद्वर्णनमुपेक्षते ॥ २ ॥

येति । याऽस्माकं करपञ्जरे—हस्तरूपे पञ्जरे, एतेन सर्वथा परतन्त्रत्वं
तस्या व्यस्यते । निपतिता—अनायासेन स्वयमेवागता । कान्ते—मनोहरे
पदे यस्याः सा, तथा अरविन्दमिव—कमलमिव, वदनं—मुखं यस्याः सा
तथा । बन्धूकं—बन्धूकपुष्पं, विम्वं—विम्वफलं, तद्वत् अघरो यस्याः सा
तथा । खेलन्—लीला कुर्वन्, चञ्चलश्च यः खञ्जरोटस्तन्नामकः पक्षी
तद्वन्नयने यस्याः सा, 'न क्रोडादिवह्वचः' इति ङीष् निषिध्यते । कुन्देन्दु-
वतिस्मृतं यस्याः सा तथा । सा इयं प्रत्यक्षतया उपस्थिता त्वद्वैरिणोऽकथ-
रस्य सेनापतेः कान्ता त्वच्चरणयोऽगता—त्वच्चरणागता सती कृतिविधौ—
कर्तव्यविषये आशा समुद्रीक्षते, किमियं करोतु इति भवतामशामियं
प्रतीक्षते ॥ १ ॥

अथ प्रतापः आर्यवर्मानुसारेण तदृशनादिकं परिहरति—शिशोदिया
इति । शिशोदियानामरुक्षत्रियाणां कुले उद्भूतः—उत्पन्नः परकान्तां—परस्त्रियं
न वीक्षते नैवावलोकयति । 'परदारान्नाम्युपेयाद्' इत्यम्युपयानं तु दुरापे-
तम् । शिशोदियाकुलोत्पन्नस्तु वीक्षतेऽपि नेत्यर्थः । परापवादेन सदृशं—

तस्मादधुनैव समुतां ससस्त्रीमेनामस्याः स्वामिसद्विवे
नयस्व । मा स्वकीयजनविरहिता रात्रावेकाकिनी तिष्ठतु ।
यतः—

परपुरुषपरीतां निर्जने सञ्चरन्तीं
बहिरपि च रजन्यामन्यगेहे वसन्तीम् ।
बहुविधशपथैः स्वां शोभनां साधयन्तीं
तदपि पिशुनलोकास्त्वन्यथैवाक्षिपन्ते ॥ ३ ॥

उ० से०—यथाऽऽज्ञापयति देवः (इति निष्क्रान्तः ।)

(ततः प्रविशति प्रधानसेनापतिः ।)

सेनापतिः—जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—विजेतुं कियदवशिष्टम् ?

सेना०—न किञ्चिदवशिष्यते । चित्रपुरदुर्गं विहाय सर्वाण्यपि
दुर्गाणि भवतामाधिपत्ये समागतानि । सर्वेष्वपि दुर्गेषु
भवता ध्वजाः समारोपिताः ।

मन्त्री—चित्रपुरदुर्गं विजये कियत्कालं प्रतीक्षितव्यम् ?

सेना०—आज्ञासमनन्तरमेव वयं चित्रपुरदुर्गं विजेष्यामहे,
परमशौर्यशालिनी उत्साहवती चास्माकं सेना ।

परनिन्दातुल्यं तस्याः परस्त्रिया वर्णनमुपेक्षते—परनिन्दामिव परस्त्रिया
वर्णनमपि भोक्तुं नैवामिलयतीत्यर्थः ॥ २ ॥

अथ रात्रौ स्वजनरहितायास्तस्याः स्थितिं प्रतिपेक्षयति—परपुरुषेति ।
परपुरुषैः—स्वकीयातिरिक्तैः पुरुषैः, यद्वा—परस्य—शत्रोः पुरुषैः अथवा परैः—
शुभावस्थामापन्नैरुत्कृष्टैः पुरुषैः पगीता युक्ताम् । निर्जने—जनसंचारादिरहिते
स्थाने सञ्चरन्ती, परपुरुषैः सह परिभ्रमन्तीमित्यर्थः । बहिरपि च—स्वगेहा-
दतिरिक्ते स्थाने स्वग्रामातिरिक्ते स्थाने वा रजन्या-रात्रौ अन्यगेहे-अन्यस्य
गेहे वसन्ती—निवासं कुर्वतीम् । 'बहिरन्यगेहे' इदं ब्राह्मणश्रमणन्यायाद्वा-
ऽवगन्तव्यम् । बहुविधशपथैः—दिव्याग्निप्रवेशादिभिः शपथैः स्थामात्मानं
शोभना शुद्धा पापरहिता साधयन्तीं तदपि शुद्धत्वमिहावपि पिशुनलोकाः-

किं स्लेच्छराजमधुनैव हरेम गत्वा

किं वाऽपि चित्रपुरमेव नयेम जित्वा ।

मानोद्धतं स्वजनमेव सदा द्विपन्तं

मानं जयेम किमु गर्वमलं चरन्तम् ॥ ४ ॥

प्रता०—सेनापते ! चित्रपुरदुर्गेऽस्मत्पितृव्यः सगरस्तिष्ठतीत्यस्म-
दधिकारे एवेति मा तावच्चित्रपुरजयाय प्रयतताम् ।
स्लेच्छराजस्य चाभिमानम् अहमेव धूर्णयिष्ये । अतः
केवलं मानस्य गर्वः प्रध्वंसितव्यः, इत्यामेरं माननगरं
लुण्ठयिष्ये, यदि मानः समुपलभ्येत तदा सोऽपि वद्-
ध्वाऽऽनेतव्यः ।

सेना०—यथाऽऽज्ञापयति देवः (इति निष्क्रान्तः)

(मन्त्रिसहितः प्रतापः परिक्रामति ।)

परनिन्दका मूर्खजना अन्यथैव आक्षिपन्ते, तां कुरुरिधामेव कथयन्ति ।
तस्माद् यथा रात्रौ स्वगेहे एवासौ गच्छेत्तथा विधातव्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ सेनापतिः स्वशक्तिं प्रदर्शयन् कथयति—किं स्लेच्छराजमिति ।
किम् अधुनैव—अस्मिन्नेव क्षणे गत्वा स्लेच्छराजं स्लेच्छराधिरतिमकबरं
हरेम-हठाद् गृहीत्वा आनयेम । कर्मणीहरणादिवत्सर्वसमर्थं हठादान-
यनेऽपि दृष्टातोः प्रयोगः । किं वाऽपि चित्रपुरमेव—चित्तार इति लोकमा-
पायां प्रसिद्धं दुर्गं जित्वा नयेम—आनयेम । स्वदाधिरत्यबाधकं तत्र स्वदृष्ट-
जारोपणं कृत्वा तदुद्धाटनकुञ्चिकामानयेमेत्यर्थः । किमु किं वा मानेन—
अभिमानेन उद्धतं सदा स्वजनमेव स्वकायक्षत्रियशक्तिमेव द्विपन्तं गर्वस्य
मलं किञ्च चरन्त—भक्षयन्तं मिथ्याभिमानं कुर्वन्तम्, यद्वा—अलं पर्याप्तमत्य-
न्तमित्यर्थः । गर्वं चरन्तं—विदधतं मानं—मानविहं जयेम । सर्वमपि वयं
कर्तुं शक्नुमः, यदेवाज्ञायिष्यति तदेव करिष्याम इति भावः ॥ ४ ॥

अकबरः प्रतापस्य अनिर्वचनीयां शक्तिं प्रदर्शयति—किमिति ।
किमिति विमर्शः । शम्भुः—एकलिक्षेश्वरः, स्वयम् अस्य ध्वजिनी—सैन्यं
जनयति । मा मद्भक्तः पराजितः स्यादिति सेनामेव स्वप्रभावेणोत्पाद-
यति । किं वा स्वकीयं गणं—वीरमद्रादिकं तत्रैव ध्वजिन्यामेव प्रताप-

(पटोन्नयनम्)

(किंकर्तव्यताविमूढ इव मन्त्रिद्वितीयोऽकबरश्चिन्तयति ।)

अक०—मन्त्रिन् ! इदानीं प्रतापः कामप्यनिर्वचनीयां शक्तिमापन्न
इव प्रतिभाति । पश्य—

शंभुः स्वयं जनयति ध्वजिनीं किमस्य

तत्रैव वा गणमुपानयते स्वकीयम् ।

येन क्षणेन निहतो मम वीरसंचो

दुर्गाणि चाप्यधिकृतानि सपर्वतानि ॥ ५ ॥

मन्त्री—नूनमयमिदानीं दैवी शक्तिमापन्नः । कथमन्यथैकेन
सर्वानारक्तफान्निहत्य सेनापतिपत्नी बन्दीकृता ।

(ततः प्रविशति सैन्यादायातः सेनापतिः ।)

सेना०—जयतु जयतु देवः !

अक०—किं प्रतापेन दासीकृतास्ताः स्त्रियः ?

सेना०—शान्तं पापम् ! शान्तं पापम् ! तेन तु अनुपदमेव ताः

सर्वा अपि सयद्गुमानं प्रेषिताः । धन्योऽयमार्यो जनः

परमौदार्यसंपन्नश्च । किं बहुना—

परस्त्रियं यो मानसाऽपि नेक्षते स एव दासीं नु विधास्यते कथम् ।

चराचरं स्वप्रमया प्रकाशयन् चार्यमोत्पादयते तमस्ततिम् ॥ ६ ॥

साहाय्यार्थं तत्सेनायामेव उपानयते—प्रापयति । येन हेतुना प्रतापेन वा
मम वीरसंचो—वीरसमूहः क्षणेन निहतो-विनाशितः । सपर्वतानि—पर्वतेन
सहिजानि दुर्गाणि चाप्यधिकृतानि—स्वायत्तीकृतानि । साधारणमनुव्य-
सेनाया नैतत्कार्यमिति तदाशयः ॥ ५ ॥

अथ अकबरसेनापतिः प्रतापस्य सच्चारित्र्यं वर्णयति—परस्त्रिय-
मिति । यः प्रतापो मनसाऽपि परस्त्रियं न ईक्षते स एव दासीं कथं नु
विधास्यते । एवंविधः सन्चरित्रः कथं नु दुरचरित्रं—दासोऽसंयमनादिकं
कर्म कुर्यात् । तदेव दृष्टान्तेन समर्थयति—स्वप्रमया—स्वकीयतेजसा चराच-
रं जङ्गमस्यावरादिकं सकलं संसारं प्रकाशयन् अयमा—सूर्यः, तमस्ततिम्—

अक्र०—किमिदानीमेकलिङ्गेश्वरादलौकिकीं शक्तिमाप्नोऽयम् ?

सेना०—युक्तं संभाव्यते ।

न पक्षपातान्न रणाद्विया वा वैराग्यतो वा न च बोधयामि ।

किं तु त्वदीयं कुशलं प्रपद्ये प्रतापतः प्रार्थनयैव सन्धेः ॥ ७ ॥

किञ्च—दैवीं महाशक्तिमसौ प्रपन्नो

विषर्द्धमानः किमिहापि यायात् ।

क्रुद्धः स चाक्रम्य तदाचरेद् य-

न्न वाच्यमेतत्परिभाषनीयम् ॥ ८ ॥

अन्वकारपरंपरां गाढान्धकारमित्यर्थः । न च नैव उत्पादयते, पुण्यात्मा प्रतापः पापकमे नैवाचरतीति भावः ॥ ६ ॥

अथ सेनापतिरकबरस्य प्रतापे आश्चर्यातिशयमवलोक्य सन्धिं प्रस्तुते—न पक्षपातादिति । अहं पक्षपातान्न बोधयामि, प्रतापस्य साहाय्यार्थं नैव कथयामीत्यर्थः । वा-अथवा रणात्संप्रामाद् भिया-भयेन न बोधयामि । वा अथवा वैराग्यतः संप्रामे द्विषाद्यवलोकनेन तदुपरामाद् न च नैव बोधयामि । किन्तु त्वदीयं कुशलं-कल्याणं प्रतापतः सन्धेः प्रार्थनयैव प्रपद्ये-अवगच्छामि । एतत्त्वत्कल्याणार्थमेव सूचयामीत्यर्थः । बौद्धकृतापादानत्वविषयतया प्रतापतः इत्यत्र पञ्चमो ॥ ७ ॥

अथ सन्ध्यकरणे अनिष्टं दर्शयति—दैवीमिति । असौ प्रतापः दैवी-लोकोत्तरां देवताप्रसादजन्यां महाशक्तिं संहारादिकारिणीं-महतीं शक्तिं प्रपन्नः प्राप्तः विषर्द्धमानः क्रमेण त्वदीयराज्यमाक्रामन्, किमिति वितर्कं कदाचिदिहापि स्वन्नगरेऽपि यायात्प्राप्नुयात् । संभावनायां लिङ् । स च तदा तस्मिन्समये क्रुद्धः सन् आक्रम्य-न्तदुपरि आक्रमणं विधाय यद् आचरेत् । 'जातुयदोर्लिङ्' इति लिङ् । एतन्न वाक्यम्, अमङ्गलत्वा-न्मया नैतदुच्यते, किन्तु परिभाषनीयमेवेतत् । स चाक्रम्य स्वां हनिष्यतीति भावः ॥ ८ ॥

मन्त्री—महाराज ! बाढमयमनिर्वचनीयां शक्तिमापन्नः । पश्य—

यः प्रत्यर्थिविराडरण्यदहने प्रोद्यद्वाग्नीयते

यः क्रूरारिगजेन्द्रवृन्दहने क्रुध्यन्मृगेन्द्रायते ।

यः कौटिल्यकलातमिस्रहरणे भास्वत्प्रकाशायते

सोऽयं पूर्णवलः प्रतापविजयः शश्वद् विजृम्भायते ॥६॥

तस्मादसौ सन्धिप्रार्थनया शुद्धमनसा भवता समर्थितव्यः ।

अक०—यथा युवयोरनुमतिः (मरी पत्रं चानाद्य सन्धिपत्रं लिखति ।

स्वकीयमुद्रयाङ्कितं विधाय तत्रैव स्वकीयेन स्थितेन अनुचरेण
प्रतापसन्धिपत्रे प्रेषयति ।)

(इति पत्रं गृहीत्वा स निष्क्रामति ।)

पटोन्नयनम् ।

(इहोपत्यकारा कतिचित्स्वसामन्तसहितः प्रतापः सानन्दं परामृशति ।)

(ततः प्रविशति बीणां वादयन्ती प्रतापविजयं गावन्ती योगिनी ।)

योगिनी—

हर हर जय जय देव !

जय प्रताप ! जय भारतभूषण जय वसुधाधिप ! देव !

अथ मन्त्री तमेव सन्धिप्रस्तावं समर्थयितुं पूर्वं तत्प्रशंसामाह-
य इति । यः प्रतापः प्रत्यर्थिनो-विपत्ता ये विराजः-क्षत्रियाः 'बाहुजः क्षत्रियो
विराड्' इत्यमरः । ते-एव अरण्यानि-वनानि तेषां दहने-सर्वथा नाशने
प्रोद्यन्-देदीप्यमानो यो द्वाग्निस्तद्वदिव आचरतीत्यर्थः, विपक्षक्षत्रि-
याणां नाशकः । तथा क्रूराः-क्रूरप्रकृतिकाः ये अरयः-शत्रवस्ते एव
गजेन्द्राः-श्रेष्ठगजास्तेषां वृन्दस्य-समूहस्य हने क्रुध्यन्-क्रोधयुक्तो यो
मृगेन्द्रः-सिंहस्तद्वदिव आचरतीत्यर्थः । तथा कौटिल्यस्य-कूटिलताया या
कला सैव तमिस्रमन्धकारस्तस्य हरणे-दूरीकरणे, भास्वतः-सूर्यस्य यः
प्रकाशस्तद्वदिवानरति । तथा सूर्यप्रकाशे अन्धकारो नैव तिष्ठति एव-
मेवास्य समक्षं कौटिल्यकलाऽपि नैव तिष्ठतीत्यर्थः । स अयं प्रतापविजयः
शश्वत्-निरन्तरं विजृम्भायते क्रमशः वर्धते एवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

हर हर जय जय देव !

जय जय धर्ममार्गपरिरक्षक ! जय मर्यादाभूष !

जय शिशोदियावंशविभूषण ! जय हरिहरप्रतिरूप !

हर हर जय जय देव !

जय यवनाधिपमानविमर्दक ! जय जयविजयमदेश !

जय तुरुष्कसेनापतिमर्दक ! जय करवालसुरेश ! ॥ ११ ॥

त्वं हर इति । हरति-नाशयति संसारमिति हरः, तत्सम्बुद्धौ हर !
 वीप्सायां या द्वित्वम् । हे देव त्वं जय जय-सर्वोत्कृष्टतया वर्तमानो
 भव । प्रतापपक्षे शत्रुसैन्यनाशकत्वात् हर इति । मित्राणामुत्तमपुरुषाणां
 या संपत्तिप्रापकत्वाद्वा इति । जय प्रताप ! । भारतस्य भूषणम् अलं-
 कारकारणत्वाद् भूषणस्वरूपम् । वसुधायाः-पृथिव्या अधिपः-प्रभुस्तत्सं-
 बुद्धौ । एतत्पर्यन्तं ध्रुवगानपदम् । हे धर्ममार्गस्य-श्रौतस्मार्तधर्मप्रवर्तकस्या-
 चारस्य परिरक्षक ! जय जय-त्वं सर्वोत्कृष्टतया वर्तमानो भव । मर्यादा-
 या भूषः-मर्यादाधिपतिस्तत्संबुद्धौ । हे शिशोदियावंशस्य विभूषण !
 शोभाकारक ! हे हरिहरप्रतिरूप !, विष्णुशिवसदृश !, पालनसंहारकारक-
 त्वात्तयोः सादृश्यम् । हे यवनाधिपस्य-अकबरस्य यो मानोऽभिमानस्तस्य
 विमर्दक-नाशक ! अथवा-यवनाधिपस्य मानस्य-मानसिंहस्य विमर्दक
 विध्वंसक ! जयविजयनामकगणयोर्मदेश ! प्रभो ! विष्णुरूप ! अथवा विज-
 यस्य मदेश ! महाप्रभो !-सर्वदा विजयशालिन् ! जय जय-सर्वदा ते
 जयो भवतु । हे तुरुष्कसेनापतेः मानसिंहस्य वा शाहजादस्य वा सली-
 मस्य वा मर्दक ! तत्तत्समयेषु परिमर्दनकारकत्वात् । यथा सलीमो हल्दी-
 पाटिकबंधे परिमर्दितः, मानसिंहो माननगर (आमेर) छुयटने चन्देन
 परिमर्दितः, शाहजादश्च शक्तिसिद्धेन परिमर्दितः इति बोध्यम् ।
 करवालस्य-राहुस्य, सुरेशः-इन्द्रः सर्वथाधिपतिरित्यर्थः, तत्सम्बुद्धौ,
 जय जय ॥ ११ ॥

शक्ति०—ससैनिकं समायान्तं शाहवाजं समुद्धतम् ।

विनिहत्य ससैन्यं तं शक्तिस्ते प्रणतः पदे ॥१२॥

प्रता०—अहो भ्राता शक्तिसिंहः ! (इति समुत्थाय तमालिङ्ग्य
स्वसमीपे उपवेशयति ।

{ पुनर्योगिनी गायति }

हर हर जय जय देव !

अय प्रताप ! जय भारतभूषण ! जय वसुधाधिप ! देव !

हर हर जय जय देव !

जय जय माननगरविध्वंसक ! जय राजकतारेश !

जय जय मानमानविच्छेदक ! जय मेवाडनरेश ! ॥१३॥

(ततः प्रविशति माननगर (आमेर) विध्वंसकः प्रतापसेनापतिः ।
योगिनी वीणां वादयन्ती मौनमास्थिता ।)

(अत्रान्तरे प्रविशति शक्तिसिंहः । योगिनी वीणां वादयन्ती मौनमास्थिता)

प्रणमन् सन् स्वकायमपि बोधयति—शक्तिः—शक्तिसिंहः सैनिकैः
सहितं—ससैनिकं, समायान्तं—मुद्राय समागच्छन्तं समुद्धतं महोद्भटं
शाहवाजमेतन्नामकमकवरसेनापतिं ससैन्यं—सेनासहितं तं विनिहत्य—
मारयित्वा ते—तव पदे प्रणतः, नमस्कारं करोतात्ययः ॥ १२ ॥

असंभावितस्य भ्रातुः प्राप्तेराश्चर्यरसाविष्टः सन् प्रतापः कथयति—
अहो भ्राता शक्तिसिंहः ।

अय पुनर्योगिनी गायति—हर हरेति । हे माननगरस्य—आमेरस्य—
मानपुरस्य विध्वंसक । जय जय—सर्वोत्कृष्टतया वतंताम् । राजके-
नृपतिगणे तारेशः, चन्द्रसदृशः, यथा तारागणे चन्द्रस्तथा नृपतिसमूहे
मवान् । अय राजकम् । 'राजम्यकं च नृपतिवृत्तिगणं गणे कमाद्'
इत्यमरः । तस्मद्बुद्धौ । तथा हे मानस्य—मानसिंहस्य यो मानोऽभिमानस्त-
स्य विच्छेदक । विधातक । जय जय । हे मेवाडनरेश ! जय जय ॥१३॥

सेना०—असावामेरलुण्टाको मानगर्वविमर्दकः ।

अयं सेनापतिश्चन्द्रो वन्दते त्वत्पदाम्बुजम् ॥१४॥

(इति पादौ प्रणमति ।)

प्रता०—साधु सेनापते ! साधु । (इति तत्पृष्ठमास्फालयति, उप-
सन्निहितं, तमुपवेशयति)

(पुनर्योगिनी गायति)

हर हर जय जय देव !

जय प्रताप ! जय भारतभूषण ! जय वसुधाधिप ! देव !

जय सन्धौ तुरुष्कसंप्रार्थित ! जय सञ्चरितदिनेश !

जय नरपते ! स्वतन्त्रधराधिप ! जय जय जितयवनेश ! ॥१५॥

(इति गायन्ती अन्तर्हिता ।)

ततः प्रविशति माननगरावध्वंसकरश्चन्द्रावत्सेनापतिः—असी इति ।
आमेरस्य—आमेराख्यमाननगरस्य लुण्टाकः, मानस्य—मानसिंहस्य यो गर्वो-
ऽभिमानस्तस्य विमर्दकः अथौ प्रत्यक्षतया विद्यमानस्तव सेनापतिश्चन्द्रः
स्वत्पदाम्बुजं वन्दते । चन्द्रस्य अम्बुजं प्रति प्रणामः शत्रुत्वात्स्वापराध-
शमनार्थमेव । अयं चन्द्रः—चन्द्रावन्नाम्ना प्रसिद्धः पूर्वं मन्त्री आसीत्,
इदानीं तु स एव सेनापतिः । चन्द्रावत्शकावत्नाम्ना प्रसिद्धौ द्वावपि
सामन्तौ स्तः ॥ १४ ॥

अथ तत्कर्मणा प्रसन्नः प्रतापस्तत्पृष्ठमास्फालयति । स्वसमोपवेशोप-
वेशयति ।

पुनर्योगिनी गायति—हर हर इति । हे सन्धौ—सन्धिविषये तुरुष्केण
संप्रार्थित ! हे सञ्चरितस्य—उत्तमचरित्राणां सदाचारस्य वा दिनेश !
सूर्य ! यथा सूर्यो घटपटादिपदार्थानां, प्रकाशकस्तथाऽयमपि सदाचारस्य
प्रवर्तकः प्रकाशकरश्च, तत्सम्बुद्धौ । हे नरपते ! हे स्वतन्त्रा—पराधिकार-
शून्या या धरा—पृथ्वी तस्या अधिप ! प्रभो !, अयं । यद्वा—हे स्वतन्त्र !
पराधीनतारहित ! हे जितो यवनेशोऽकबरौ येन स तत्सम्बुद्धौ, हे जित-
यवनेश ! जय जय—सर्वोत्कृष्टतया वर्तताम् । इति गायन्ती योगाग्रशस्यला-
दन्तर्हिता जाता ॥१५॥

ततः प्रविशति सन्धिपत्रमादाय अकबरस्यानुचरः । स च प्रतापपादयो-
र्विनिपत्य अकबरस्य सन्धिपत्रं समर्पयति । प्रतापस्तदुद्धाट्य सर्वान्
भावयति ।)

श्रीमत्सु औतस्मार्तधर्मरक्षकेषु गोब्राह्मणप्रतिपालकेष्वार्य-
पतिप्रतापेषु सप्रणयमसौ प्रार्थयते ।

स्वतन्त्रो. सर्वतः सन्तो भवन्तो मम मानिनः ।

पूज्याः सोमामनुल्लङ्घ्य शान्तिं कुर्वन्तु विश्वतः ॥१६॥

इति भवशीयः प्रियसुहृदकबरः

प्रताप—स्वीकृत्यते सन्धिरिति ग्लेच्छाधिपतिं संदिश । (ततः
सप्रणयमकबरस्यानुचरो निष्क्रान्तः)

प्रतापः सन्धिपत्रं भावयति—श्रीमत्सु इत्यादि । श्रोः—सपल्लवमी-
विद्या वा तद्युक्तेषु, औतः—श्रुतिप्रतिपादितो वेदविहितः, स्मार्तः स्मृत्यादिस्त-
दाचारमूलको वा यो धर्मस्तस्य रक्षकेषु गोः श्रुतिस्मृत्यादिरूपाया वाण्याः
घेन्वा वा ब्राह्मणानां च प्रतिपालकेषु अध्ययनाध्यापनप्रोत्साहादिना भोजन-
वस्त्राच्छादनादि साहाय्यदानेन वा परिरक्षकेषु 'ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा सद्यः
प्राणान्परिस्पृजेत्' इति स्मृत्यादिषु विधानात्प्राणपण्येन तद्रक्षकेषु, आर्य-
पतिप्रतापेषु । आर्याणामधिपतिः प्रताप एव स्वातन्त्र्येण तेषां पररक्षक-
त्वात् । असौ अकबरः सप्रणयम्—अधीनतासहितं यथा राजा राजाणां राजा
सन्धिं याचते, न ॥ स्वातन्त्र्येण कथयतीत्यर्थः ।

गुहः—अच्चरियम् ! अच्चरियम् ! । एकलिङ्गप्रभावेण अम्हाण
 आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् ! । एकलिङ्गप्रभावेणास्माक
 पहुणो सन्वोऽवि मणोरहो जुगवदेव संपुण्णो जाओ
 प्रमोः सर्वोऽपि मनोरथो युगवदेव संपूर्णो जातः ।
 आमेरं माणणअरं विलुण्ठिय माणसीहगवो वि-
 आमेर माननगर विलुण्ठिय मानसिहगवो वि-
 चुण्णिओ । आक्रमणमहिलसन्ती सन्वा चेव अगवर
 क्षुण्णितः । आक्रमणमहिलसन्ती सर्वा एव अकवर-
 सेणा नासिआ । अच्चरियं ! अच्चरियं ! अगवरो अ मानं
 सेना नाशिता । आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् ! अकवरश्च मान
 चइत्ता अम्हाण पहुणो पदावस्स चरणम्मि णिवइओ ।
 त्यक्त्वाऽस्माक प्रमोः प्रतापस्य चरणे निपतितः ।

शक्ति०—(प्रताप प्रति) अहो अस्या योगिन्या वाचि अनिवंचनीया
 शक्तिः विद्युदिव सर्वतो घमनीषु शौर्यौदार्यशक्तिं संचा-
 रयति, त्वयि च परमां भक्तिमुत्पादयति ।

श्रीयाः क्षत्रियत्वेन पूजार्हा वा । सोमा—स्वकीयसीमान यावत्पर्यन्तमि-
 दानीं भवतामधिकारोऽस्ति तां सीमाम् । ‘सीमसामे स्त्रियामुमे’ इत्यमरः ।
 अनुल्लङ्घ्य स्वसामायामेव स्थितः सन् विश्वतः ‘सप्तम्यर्थे तसि.’ विश्व-
 रिमन् सर्वत्र शान्तिं कुर्वन्तु । शान्तिकरणं स्वदधीनमेवेति सन्धि
 प्राथयते । तेन शान्तिर्भविष्यतीति भावः । इति एतत्प्राथयते भवदीयः
 प्रियः श्रेष्ठः सुहृद् ‘सुहृद्दुहृदौ मित्रामित्रयो’ इति हृदयशब्दस्य
 मित्रेऽप्येव हृदित्यादेशः । प्रियमित्रमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ गुहो मिल्लराजो युगपत्सर्वविधकार्यसिद्धिमालोक्य आश्चर्यरसा-
 विष्टः कथयति—आश्चर्यमित्यादि । किं तत्कार्यमिति दर्शयति—आमेर-
 नगरलुण्ठनेन मानसिहगवंविमर्दनमसंभावितमिवासीत्तदपि एकलिङ्ग
 प्रभावेण जातम् । प्रलयकालिकसमुद्र द्वायान्तो अकवरसेना शक्तिं सिद्धेन
 क्षणमात्रेणैव नाशिता । अहो आश्चर्यकरमिदं महत्कार्यं जातम् ।

तत प्रविशति सन्धिपत्रभादाय अकबरस्यानुचर । स च प्रतापपादयो-
र्विनिपत्य अकबरस्य सन्धिपत्रं समर्पयति । प्रतापस्तदुद्धाट्य सर्वान्
भावयति ।)

श्रीमत्सु श्रीतस्मार्तधर्मरक्षकेषु गोब्राह्मणप्रतिपालकेष्वार्य-
पतिप्रतापेषु सप्रणयमसौ प्रार्थयते ।

स्वतन्त्रो सर्वतः सन्तो भवन्तो मम मानिन ।

पूज्या सीमामनुल्लङ्घय शान्तिं कुर्वन्तु विश्वत ॥१६॥

इति भवदीय प्रियसुहृदकबर

प्रता०—स्वीकृतस्ते सन्धिरिति श्लेष्माधिपतिं संदिश । (तत
सप्रणयमकबरस्यानुचरो निष्कात)

प्रताप सन्धिपत्रं भावयति—श्रीमत्सु इत्यादि । श्री —सपुल्लक्ष्मी
विद्या वा तद्युक्तेषु श्रीत-श्रुतिप्रतिपादितो वेदविहित, स्मार्त स्मृत्यादिस्त
दाचारमूलको वा यो धर्मस्तस्य रक्षकेषु गो श्रुतिस्मृत्यादिरूपाया वाण्या
केन वा ब्राह्मणानां च प्रतिपालकेषु अध्ययनाध्यापनप्रोत्साहादिना भोजन-
वस्त्राच्छादनादिसाहाय्यदानेन वा परिरक्षकेषु 'ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा सद्य
प्राणान्परित्यजेत्' इति स्मृत्यादिषु विधानाध्याययोगेन तद्वक्ष्येषु आर्य-
पतिप्रतापेषु । आर्याणामधिपति प्रताप एव स्वातन्त्र्येण तेषां सरक्षक-
त्वात् । असौ अकबर सप्रणयम्-अधीनतासहितं यथा स्यात्तथा, प्राययते
सन्धिं याचते, न तु स्वातन्त्र्यं कथयतीत्यर्थः ।

किं प्रार्थयते इत्याह—स्वतन्त्रा इति । सन्त उत्तमाः सदाचार-
सम्पन्ना भवन्त आदरणीया सर्वतः सर्वतोभावेन स्वतन्त्रा, देशाधिकार-
शासनादिसर्वकार्येषु स्वाधिपत्ययुक्ता, न च युष्माकं राज्ये करग्रहणस्पृहा
वयं करिष्याम, नापि युष्माकं शासनप्रबन्धे किञ्चिदपि हस्तक्षेपं विधा-
स्याम सर्वमेतत् 'सर्वतः' इति पदेन व्यज्यते । तथा भवन्तो मम मानिन ।
यदि किञ्चिदप्यस्माकमनौचित्यं भवन्तो बोधयिष्यन्ति तत्स्वरितमेव
निवर्तयिष्याम । अपि च भवन्त पूज्या अस्माकं सर्वतोभावेन आदर-

गुहः—अच्चरियम् ! अच्चरियम् ! । एगलिङ्गप्रभावेण अम्हाण
 आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् ! । एकलिङ्गप्रभावेणात्माकं
 पटुणो सव्वोऽवि मणोरहो जुगवदेव संपुण्णो जाओ
 प्रमोः सव्वोऽवि मनोरथो युगवदेव संपूर्णो जातः ।
 आमेरं माणणअरं विलुण्ठिय माणसीहगव्वो वि-
 आमेरं माननगरं विलुण्ठिय मानसिहगव्वो वि-
 चुण्णिओ । आक्रमणमहिलसन्ती सव्वा चैव अगवर
 चूर्णितः । आक्रमणमभिलपन्ती सर्वा एव अकवर-
 सेणा नासिआ । अच्चरियं ! अच्चरियं ! अगवरो अ मानं
 सेना नाशिता । आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् ! अकवरश्च मानं
 चइत्ता अम्हाणं पटुणो पदावस्स चरणम्मि णिवइओ ।
 त्यक्त्वाऽत्माकं प्रमोः प्रतापस्य चरणे निपतितः ।

शक्ति०—(प्रतापं प्रति) अहो अस्या योगिन्या वाचि अनियेचनीया
 शक्तिः विष्णुदिव सर्वतो धमनीषु शौर्यौदार्यशक्तिं संचा-
 रयति, त्वयि च परमां भक्तिमुत्पादयति ।

शोषाः क्षत्रियत्वेन पूजार्हा वा । सीमां—स्वकीयसीमानं यावत्पर्यन्तमि-
 दानीं भवतामधिकारोऽस्ति तां सीमाम् । 'सीमसोमे स्त्रियामुमे' इत्यमरः ।
 अनुल्लङ्घय स्वसीमायामेव स्थितः सन् विश्वतः 'सप्तर्ष्ये सतिः' विश्व-
 स्मिन् सर्वत्र शान्तिं कुर्वन्तु । शान्तिकरणं त्वदधीनमेवेति सन्धि
 प्रार्थयते । तेन शान्तिर्भविष्यतीति भावः । इति एतत्प्रार्थयते भवदीयः
 प्रियः श्रेष्ठः सुहृद् 'सुहृद्दुहृदो मित्रमित्रयोः' इति हृदयशब्दस्य
 मित्रेऽप्येव हृदित्वादेशः । प्रियमित्रमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ गुहो मित्तराजो युगपत्सर्वविधकार्यसिद्धिमालोचय आश्चर्यरसा-
 विष्टः कथयति—आश्चर्यमित्यादि । किं तत्कार्यमिति दर्शयति—आमेर-
 नगरलुण्ठनेन मानसिहगव्वविभ्रमनभसंभावितमिदासत्तदपि एकलिङ्ग
 प्रभावेण जातम् । प्रलयकालिकसमुद्र इवायान्ती अकवरसेना शक्तिसिद्धेन
 क्षणमात्रेणैव नाशिता । अहो आश्चर्यकरमिदं महत्कार्यं जातम् ।

प्रता०—एवमेवैतत् । सेयं तपोबलेनेमां शक्तिमापन्ना ।

राजगुरुः—(प्रविश्य) प्रताप । साधु त्वयाऽऽर्यमर्यादा रक्षिता ।
स्लेच्छराजश्च नम्रीकृतः ।

आज्ञा सर्वेशिरामणिप्रणयिनी भक्तिश्च ते भारते
सौजन्यं परमं सुत प्रणयवान् कान्ता मनोहारिणी ।

राज्यं सन्निरुपद्रवं प्रकृतयो गाढानुरक्तास्त्वयि
स्तोत्रं सिन्धुपरात्परं किमपरं भूय प्रियं कुर्महे ॥ १७ ॥

प्रताप.—तथापि इदं भर्तृवाक्यमस्तु—

सर्वे सत्पथगामिन शिवरताः स्वातन्त्र्यदेवप्रियाः

ब्रह्मण्या निजधर्मकर्मकुशला राष्ट्रानुगा मानिनः ।

विद्वासः स्वकदारमात्रनिरता दक्षा दृढप्रत्यया

भूयासुर्गुणधाधिपा नयविदः पुण्ये पुनर्भारते ॥ १८ ॥

राजगुरुः तथाऽस्तु ।

(इति भूयः पठति ।)

पठोत्तेजः)

यद्यमवयरो मान-स्वाभिमान मानसिद्धि वा त्यक्त्वा अस्माकं प्रभो-शरणे
निपतितः । एतेन स्वस्यापि कायसिद्धिः सूचिता भवति । अन्यस्तु गमम् ।

सेयमिति । या जात्या नटजातिविशिष्टा आसीत्सैवेयम् । तपसो
बलेन इमां शक्तिमापन्नेति ।

सर्वे इति । सर्वे सत्पथगामिनो भूयासुः । शिवे-कल्याणे, आत्मनो
लोकस्य वा कल्याणे रताः । यद्वा शिवे-शङ्करोपासनायां रतास्तत्पराः ।
तथा स्वातन्त्र्यस्य स्वतन्त्रताया अधिष्टायका यो देवः स प्रिया येषां ते
तथा । यद्वा स्वातन्त्र्यं च देवश्च देवो विष्णुः शिवो वा । स्वातन्त्र्यदेवो ।
सौ प्रियो येषां ते तथा । 'वा प्रियस्य' इति प्रियशब्दस्य परनिपातः । यद्वा
स्वातन्त्र्ये देवप्रियाः । देवानां प्रिया-देवप्रियाः । देवानां प्रिय इति तु
भ्रमः । अन्यत्र देवप्रियाः । ब्रह्मण्याः ब्रह्मभक्षा । निजे-आत्मीये ये

इति श्रीविद्यावारिधिसर्वतन्त्रस्वतन्त्रमहामहोपाध्यायमथुराप्रसाद-
दोक्षितकृतौ वीरप्रतापनाटके सप्तमोऽङ्कः समाप्तः ।
समाप्तं चेदं नाटकम् ।

धर्मकर्मणी, तत्र कुशलाः । राष्ट्रस्य अनुगाः । मानिनः-मानमुक्ताः नस्वमि-
मानशून्याः । विद्वांसः पण्डिताः सदसद्विवेकवेत्तारः । स्वकदारमात्रे
निरताः स्वदारसंतुष्टा इत्यर्थः । दक्षाः-कार्यकुशलाः । दृढः प्रत्ययः
स्वधर्मे विश्वासी येषां ते तथा । नवविदः-नीतिनिपुणाः समया-
नुकूल्येन राष्ट्रमेवाकारकाः, वसुधाधिपाः-वसुधायाः सर्वविधसमृद्धि-
संपूरिताया मारुतभूमेरधिपाः प्रभवो राजानः पुण्ये-पवित्रे मारुते पुनः
मूषासुः । पवित्रे भूयः पूर्वोक्तगुणविशिष्टा राजानो भवन्त्विति
तात्पर्यार्थः ॥ १८ ॥

यत्तु ग्रन्थसमाप्तावपि अङ्कसमाप्तौ 'निष्क्रान्ताः सर्वे' इति 'अन्त-
निष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः' इति विश्वनाथवचसा निष्क्रामणं
कारयन्ति, तन्नातितरा रोचते । निष्क्रमणानन्तरं शून्यस्यानावलोकनेन
सामाजिकानां वैरस्यं स्थात् ।

इति श्रीमन्महामहोपाध्यायमथुराप्रसाददोक्षितविरचिताया वैजयन्ती-
टीकाया सप्तमोऽङ्कः ।

समाप्ता चेयं वैजयन्ती ।

अथ टीकाकर्तुः परिचयः—

शताब्द्यां षोडशीयायां शिवराजपुराधिपैः ।

चिकीर्षितं विष्णुयागं श्रीकान्तो द्रष्टुमाययौ ॥१॥

यज्ञे यज्ञाग्निनीतौ विकलतरलितान्मानुषान्प्रेक्ष्य धीरः

प्रोवाचेत्थं त्वयैवं किमिह विधिविधौ बाह्यवहेर्विधेयम् ।

आक्षिप्तस्तर्हि कार्यस्तव यदि महिमाऽभ्यन्तराग्निप्रसूतौ

हुं कृत्वा मन्त्रशक्त्याऽनिलमधियजनं दीप्तिमन्तं निनाय ॥२॥

अथ विदुषामनुरोवाद्वाज्ञश्चाप्यनुनयादचोकरत ।

यज्ञं स्वयं च कृतवान् दीक्षितपदवीं ततः प्राप्तः ॥ ३ ॥

अद्वितीयमहिमा स बभूव कान्यकुब्जवरभूसुरमध्ये ।

तोषितः स्वकृतितो वरवर्णी सोऽपि चाशिपमदत्त ततोऽस्मै ॥४॥

भवत्कुले तिष्ठतु सर्वदा सती सरस्वती साधुपदा दृढारपदा ।

विहाय वैरं गिरया च शाश्वतं न जातु पद्मा विजहातु ते कुलम् ॥५॥

भास्वद्भूरिप्रतापः सकलबुधगणेष्वग्रणीभूरिकीर्त्तौ

राज्ञां मान्यो वरेण्यो हरिहरचरणस्तस्य वंशोऽजनिष्ट ।

तत्पुत्राः पञ्च जाता निगमनयविदस्ते च विद्वत्सु पूज्याः

सर्वे सिद्धान्तविज्ञाश्चरकविधिवुधा वैद्यवर्या बभूवुः ॥ ६ ॥

सकलमहीसुरमण्डनवर्यः शास्त्रायमर्मज्ञः ।

वदरोनाथो धीरो हरिहरपुत्रो भियग्वरो जातः ॥ ७ ॥

तदात्मजोऽहं मथुराप्रसादः सुधियां मतः ।

तस्य मे विदुषां स्वान्ते कृतिर्विजयतामियम् ॥ ८ ॥

